।। ॐ श्री विश्वेश्वराय नमः।। ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः।। ॐ श्री चन्द्रमोहन सद्गुरुवे नमः

सद्गुरुदेव

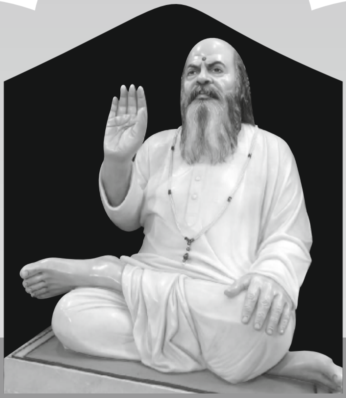

यौगिक प्रश्नोत्तरी

भाग-3

योगयोगेश्वर अनन्तविभूषित सद्गुरुदेव
योगीराज श्री चन्द्रमोहनजी महाराज के
स्वहस्त लिखित विशेषलेख
यौगिक प्रश्नोत्तरी एवं योगेश्वर चरित्रमाला

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

प्रश्न : हे गुरुदेव आपने मेरी अहिंसा विषय में मेरे मन की शंकाओं को भली प्रकार से निवृत्त कर दिया है। मैं भली प्रकार से समझ गया हूँ कि अहिंसा धर्म का पालन करने वाला अवश्य ही योग के परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है और यह भी मैं भली प्रकार से समझ चुका हूँ कि बिना योग-समाधि के मनुष्य पूर्णरूपेण अहिंसक नहीं बन सकता।

तत्र कोमोह: क: शोक एकत्वमनु पश्यत:।

अर्थात् जो व्यक्ति एकत्व का दर्शन कर लेते हैं उनकी द्वैत बुद्धि समाप्त हो जाती है। जो व्यक्ति प्राणिमात्र के अन्दर अपने आपको ही अवस्थित देखेगा उसके मन से हिंसा की भावना तो स्वाभाविक रूप से नष्ट हो जायेगी, क्योंकि वह यह भली प्रकार से समझ जावेगा कि जितने ये शरीर दिखलाई देते हैं यह सबके सब मेरे अपने हैं, और इनमें मेरा नित्य का अवस्थान है, ऐसी स्थिति में वह किसी से विरोध करेगा ही क्यों? अपने आप ही उसके मन में अहिंसा की पराकाष्ठा आ जायेगी। किन्तु हे गुरुदेव! आपने शेष यमों का और नियमों का यथार्थ स्वरूप अभी मुझे नहीं समझाया है। कृपा करके वह भी मुझे समझाइये। अहिंसा के बाद में दूसरा यम सत्य बतलाते हैं। अत: आप कृपा करके मुझे समझाइये कि सत्य का क्या स्वरूप है? और उसको पालन करने वाले व्यक्ति किस फल के भागी हुआ करते हैं?

उत्तर : हे पुत्र! देखो मन, वाणी और कर्म से जो एक ही भाव व्यक्त किया जाता है यथार्थ में सत्य वही कहलाता है। सत्यवादी मनुष्य जो मन में विचार करेगा वही वाणी से भी कहेगा और जो वाणी से कहेगा वही आगे क्रियात्मक रूप से करेगा भी। यही सत्यवादी महात्माओं की पहचान भी है।

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।

अर्थात् जो भाव मन में छुपे हुए हों वही भाव वाणी से व्यक्त करे और जो वाणी से कहदे उसका पालन भी यथावत् करे। वही मनुष्य सत्यवादी कहला सकता है। तुमने अपने प्राचीन इतिहास की बातें पढ़ी होंगी उनमें जिस ऋषि-मुनि ने मन से विचार करके जिस प्रकार की वाणी कहदी उसका पालन भी उसी प्रकार से किया। तभी वह पूर्णरूपेण सत्यवादी कहलाया और वही महात्मा का पद वाला रहा है। इसके अतिरिक्त—

मनस्यन्नत, वचस्यन्नत, कर्मण्यन्नतदुरात्मनाम्।

अर्थात् मन में कोई और भाव छुपे हुए हैं और वाणी से कुछ और भाव कहता है और क्रियात्मक रूप से कुछ और करता है। यह लक्षण दुरात्माओं के होते हैं। ऐसे व्यक्ति कभी भी सत्यनिष्ठ नहीं हो सकते और न ही उनकी वाणी कभी भी क्रियाफल वाली हो सकती है। सत्य की महिमा हमारे पुराने इतिहासों एवं स्मृतियों में खूब भली प्रकार से समझाई गई है। पढ़िये उपनिषदों में और हमारे अन्य ग्रंथों में सत्य सिद्धान्त को किस प्रकार से समझाया है-

सत्यं ज्ञानमनंतम् ब्रह्म। तैत्रि. २/१/१

सत्य प्रभु का रूप है व वाणी का तप है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् अन्त: शरीरे ज्योतिर्मयोहि शुभ्रो य पश्यन्ति यतय: क्षीणादोषा:।।

सत्यमेव जयते (1) नानृतं सत्येन: पम्था बिततो देवयान्।।

अर्थात् सत्य, ज्ञान, ब्रह्मचर्य के द्वारा ही अन्त: शरीर में जो शुभ्र ज्योतिर्मय आत्मा को देखता है। जिसको दोषों को क्षीणकर यति लोग मुश्किल से देख पाते हैं। हमेशा सत्य की ही जय होती है। देवों का मार्ग सत्य से विस्तृत है।

भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज ने श्रीमद्भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय के २३ वें श्लोक में सत् शब्द को 'ब्रह्म' नाम बतलाया है। यथा—

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध: स्मृत:।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिता: पुरा।।

अर्थात् ॐ तत्, सत् यह तीन प्रकार का ब्रह्म का ही नाम है। इसी के द्वारा वेद, यज्ञ व ब्राह्मणों का विधान हुआ। इसी प्रकार का संकेत उपनिषदों में स्थान-स्थान पर भरा है।

सत्यं ज्ञानमन्त ब्रह्म— तैत्रिय 3 2-1-1

सत्यं ब्रह्म— वृहदारण्यक उपनिषद् 5-5-1

अर्थात् सत्य ही ब्रह्म है। श्री विष्णु सहस्र नाम में भगवान को- ''**सत्य: सत्य पराक्रम**'' कहकर स्तुति की गई है। श्रीमद्भागवत् पुराण के दशम् स्कन्ध के दूसरे अध्याय में

गर्भ स्तुति के वर्णन में श्री भगवान कृष्णचन्द्र को परम सत्य व सत्यात्मक शब्दों से सम्बोधित करके स्तुति की है। यथा—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं-
स्ययोनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यामृत सत्यनेत्रं न
सत्यात्मकत्वां शरणप्रपन्ना।।

अर्थात् हे प्रभो! आप सत्यव्रत, सत्य-परायण व तीनों कालों में परम सत्य हैं। सत्य ही आपकी प्राप्ति का मुख्य साधन है, क्योंकि आप सत्यात्मक हैं।

उन सर्व शक्तिमान सच्चिदानन्दघन प्रभु का स्वरूप सत्य है। वे स्वयं सत्य हैं, सत्य स्वयं परब्रह्म हैं। सत्य की महाशक्ति का वर्णन करते हुए हमारे पूर्वजों ने बड़े ऊँचे स्वर से कह दिया कि—

सत्येन वायुधावति सत्येनादित्यो,
रोचते दिवि सत्य वाच:।
प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं,
तस्मात्सत्य परं वदन्ति।।

— नारायणोपनिषद् ७६

सत्य ही जय का मुख्य साधन है—

सत्यमेव जयते नानृतं,
सत्येन पंथा विततो देवयान:।
येना क्रमन्त्यृयोह्यप्तकामा:,
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानं।।

— मुण्डकोपनिषद् ३/१/६

अर्थात् सदा सर्वदा सत्य ही की जय होती है। इस सत्य का अवलम्बन लेकर ऋषिलोक आप्तकाम हो गये तथा उस सत्य के परम प्रतिष्ठा रूप प्रभु को सरलता से प्राप्त कर लिया। मर्यादा भगवान श्री रामचन्द्र जी के वनवास हो जाने के बाद उनको लौटाने के विचार से गये हुए वशिष्ठ, वामदेव आदि गुरुजनों के प्रति सत्य की महिमा को ह्रदय में धारण करते हुए श्री रामचन्द्र जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा—

सत्यमेवानृशसं च राजवृत्तं सनातनम्,
तस्मात्सत्यात्मकं राज्य सत्यो लोके प्रतिष्ठत:।
ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव ही मेनिरे,
सत्यवादी ही लोकेस्मिन पर गच्छति चाव्यम्।।
उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृत वादिन:,
धर्म सत्य परो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते।
सत्यमेवेश्वरो लोके सत्य धर्म: सदाश्रित:,
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परमपदम्।।
दत्तमिष्टं हुत चैव तप्तानि च तपासि च,
वेदा: सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्यपरो भवेत्।।

— बाल्माकि रामायण- अयोध्याकाण्ड
सर्ग 1/10-14

अर्थात् सत्य ही सनातन राजवृत है। राज्य की व लोक की सत्य ही में प्रतिष्ठा है। ऋषि, मुनि व देवता सभी ने सत्य को माना है यही सनातन धर्म है। सत्यवादी ही इस लोक में अक्षयपद को प्राप्त करता है। जिस प्रकार मनुष्य सर्प से डरते हैं इसी प्रकार अनतृवादी से डरना चाहिये, क्योंकि इस संसार में सत्य ही परमतत्त्व है व सभी शुभों का मूल है।

इस लोक व परलोक में सत्य ही ईश्वर है, धर्म सदा सत्य के आश्रित है, सर्व विश्व का मूल है, सत्य से बढ़कर कोई तत्त्व नहीं है, सत्य ही परम तत्त्व। सभी दान, अनुष्ठान, यज्ञ व तप सत्य पर आधारित हैं। इस प्रकार चारों वेद सत्य द्वारा ही प्रतिष्ठा पाने वाले हैं। अत: कल्याण चाहने वाले को सत्यपरायण होना चाहिये। इस प्रकार सत्य की महान महिमा को बतलाकर भगवान श्री रामचन्द्रजी अपने व अपने पिताजी के सत्य वचन के पालन के लिये अयौध्या नहीं लौटे। ठीक इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी रामायण में स्पष्ट लिखा है—

सत्य मूल सब सुकृत सुहाये,
वेद पुरान विदित मनु गाये।
धर्म न दूसर सत्य समाना,
आगम निगम पुरान बखाना।
नहिं असत्य सम पातक पुञ्जा,
गिरिसम होइ कि कोटिक गुञ्जा।।

इसी प्रकार अन्य संतों की वाणियों में भी सत्य की महान महिमा का वर्णन कूट-कूटकर भरा पड़ा है—

जाके हिरदै सांच है, ताके हिरदै आप।

अर्थात् जिसके ह्रदय में सत्य है वहीं प्रभु का भी वास है। ठीक यही भाव महाभारत में अन्यान्य आर्य ग्रन्थों में भरे पड़े हैं—

अश्वमेघ सहस्त्रं च सत्यं च तुलया घृतम्।
अश्वमेघ सहस्रेभ्य सत्यमेव विशिष्यते।।
सर्व वेदाविगमनं सर्व तीर्थावगाहनम्।
सत्यं च वचनं राजन समं वा स्यान्नैवासनम्।।
नास्ति सत्य समोधर्मो न सत्याद्विशिष्यते परम्।
न तीव्रतरं किंचिदनृतादिहि विद्यते।।

— महाभारत आदि पर्व ७४/१०२-१०५

अर्थात् संहस्रों अश्वमेघ यज्ञ की तुलना करें तो सत्य ही

उत्कृष्ट है। इसी प्रकार सारे वेदों का पढ़ना, तीर्थ-स्नान सत्य की तुलना में नहीं आ सकते। सत्य के समान कोई धर्म नहीं है और असत्य के समान घोर पातक नहीं है।

महाभारत के शांति पर्व १६२वें अध्याय में श्री भीष्म पितामह ने बड़े ऊँचे शब्दों में सत्य का व्याख्यान किया और अन्त में यहाँ तक कह दिया कि—

नान्तो शब्दों गुमानां च वक्तुं सत्यस्यपार्थिव,
अत: सत्यं प्रशसन्ति विप्रा सपितृदेवता।

इसी प्रकार महाभारत के अनुशासन पर्व में—

सत्येन सूर्यस्तपति सत्येनाग्नि प्रदीप्यते।
सत्येन मारुतो वान्ति सत्ये सर्व प्रतिष्ठतम्।।
सत्येन देवा प्रीयन्ते पितरा ब्राह्मणास्तथा।
तस्मादहु परो धर्म एतस्मात्त्सत्यन्नलंघयेत्।।
मुनय: सत्य निरता: मुनय: सत्य विक्रमा:।
मुनय: सत्य शपथास्तस्मात्सत्यं विशिष्यते।।

अर्थात् सत्य की महिमा का वर्णन कहां तक करें। सब ऋषि, मुनि, देवता स्थान-स्थान पर सत्य की महिमा गाते हैं। सत्य के सूर्य तपता है, सत्य से वायु बहता है, अग्नि तपता है, सत्य से ही सब प्रतिष्ठित हैं। देव लोग, मुनि लोग, ब्राह्मण सत्य से प्रसन्न होते हैं। अत: कभी भी सत्य का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। सब ऋषि-मुनियों का बल सत्य ही है। इसी प्रकार के भावों से वेद, शास्त्र व पुराण भरे पड़े हैं।

श्री मुनि जी महाराज अपनी मनुस्मृति अध्याय आठ के ९६ वें श्लोक में निशंक सत्यवादी को बड़ा ऊँचा महत्व दिया है। यथा—

यस्य विद्धान हि बदत:, क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते।
तस्मान्नदेवा श्रेयांसो लोके, अन्यं पुरुषं विदु:।।

- मनुस्मृति अध्याय ८ श्लोक ९६

अर्थात् निशङ्क सत्यवादी का देवत लोग भी परम आदर करते हैं, व उसको बड़ा मानते हैं।

इसी प्रकार मनुस्मृति के चौथे अध्याय में प्रिय एवं सत्य बोलने को ही सत्य सनातन धर्म बतलाया है। यथा—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियं।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्म: सनातन:।।

- मनु. अ. ४-१३८

अर्थात् सत्य बोलो, किन्तु प्रिय सत्य बोलो। कटु सत्य न ऐसा बोलों नहीं कि झूठ को सत्य सा बनाकर प्रिय बोल दो। कभी नहीं सत्य ही प्रिय शब्दों में बोलो। यही सनातन धर्म है। मनुष्य को मनसा वाचा कर्मणा सत्यवादी होना चाहिये।

वाणी से शब्द कहे जा सकते हैं। भाव छुपाया जा सकता है। किन्तु यह सब असत्य है, सत्य नहीं। जो किसी सभा में बैठकर सत्य को जानते हुए भी नहीं कहते वे इस प्रकार असत्य ही बोलते हैं—

ये तु सभ्या सदा ज्ञात्वा तूष्णीध्यायन्नासते।
यथा प्राप्त न ब्रुबते ते सर्वेऽनृत वादिन:।।

अर्थात् जो लोग सत्य को समझते हुये भी सत्य नहीं कहते वे सब अनृतवादी ही है। अत: मनसा वाचा कर्मणा सत्य बोलने वाला ही सत्यवादी कहला सकता है।

सत्य वचन व वाक्सिद्धि—

जो मनुष्य पूरी तरह मनसा वाचा कर्मणा सत्य बोलते हैं व अपने संकल्प मात्र को भी असत्य नहीं होने देते, उनकी बुद्धि में ऋत वास कर जाता है। वे लोग जो सोचते हैं वह सत्य है, जो कहते हैं वह सत्य है, उनकी कोई भी क्रिया असत्य नहीं हो सकती। योगदर्शन में भगवान पतञ्जलि जी आदेश करते हैं—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

(साधनपाद सूत्र ३६)

इस सूत्र पर व्यास भाष्य—

धार्मिको भूया इति भवति धार्मिक: स्वर्ग प्राप्नुहीति स्वर्ग प्राप्नोति अमोघास्य वाग्भवति।

अर्थात् सत्य प्रतिष्ठित योगी जिसने अपने पूरे जीवन में असत्य नहीं बोला उसकी वाणी अव्यर्थ हो जातीहै। उसको बिना प्रयत्न के वाक्-सिद्धि रहती है। उसके मुख से निकला वचन कभी मिथ्या नहीं होता।

अखिल अण्ड-ब्रह्माण्ड नायक परम सत्य स्वरूप भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज ने महाभारत में द्रौपदी को सान्त्वना देते हुये प्रतिज्ञापूर्वक अपनी वाक्-सिद्धि को कहा है।

चलेद्धि हिमाञ्छैलों भेदनी शतघा भवेत्।
द्यौ: पतेच्च सनक्षत्रा, न मे मोघं बचो भवेत्।।
सत्यं ते प्रतिजानामि कृष्णे वाच्यो निगृह्यताम्।
हतमित्राञ्छ्रिया युक्तान्न चिराद द्रश्येसपतीन्।।

अर्थात् हिमालय अपने स्थान से विचलित हो जाय, पृथ्वी के टुकड़े-टुकड़े हो जायँ और चाहे आकाश नक्षत्रों सहित गिर पड़े, किन्तु मेरी वाणी कभी भी मिथ्या नहीं हो सकती। द्रोपदी आंसू पोंछो, बहुत थोड़े समय में तुम अपने पतियों को शत्रु-रहित भूमण्डल पर राज्यश्री युक्त देखोगी। सत्यस्वरूप भगवान ने—''सत्यं ते प्रतिजाने''— कहकर उपरोक्त शब्द द्रोपदी से कहे और हुआ भी वहीं।

इसी प्रकार अभिमन्यु की स्त्री उत्तरा को सांत्वना देते हुए भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी ने अश्वत्थामा के ब्रह्मशास्त्र प्रयोग द्वारा उसके मृत शिशु को जीवन-दान देने के समय बार-बार प्रतिज्ञापूर्वक अपने सत्य को साक्षी रखते हुए कहा कि—

न ब्रवोम्युन्तरे मिथ्या, सत्यमेतद्भविष्यति।
एष संजीवयाभ्येनं, पश्यतां सब देहिनाम्।।
नोक्तापूर्वमया मिथ्या, स्वैरेस्वपि कदाचन्।
न च युद्धात्परावृत्तस्तथा संजीवतामयम्।।
यथा मे दयितो धर्मा, ब्राह्मणाश्च विशेषतः।
अभिमन्योः सुतो जातो, मृतो जीवत्वयान्तथा।।
यथाहं नाभि जानामि, विजयेन कदाचन्।
विरोधन्तेन सन्तेन मृतो, जीवत्वय शिशु।।
यथा सत्यश्च धर्मश्च, मयि नित्य प्रतिष्ठतौ।
तथा मृतः शिशुमय, जीवतादभिमन्युजः।।
यथा कंसश्च केशी च, धर्मैण निहितौ मया।
तेन सत्येन बालोऽयं, पुनः सजीवतामयम्।।

– महा. अश्वमेघ पर्व ६८/१८-२३

अर्थात् अक्ष उत्तरे मैं कभी भी असत्य नहीं बोलता हूँ, मेरी यह वाणी अवश्य ही सत्य होगी। सभी के देखते-देखते इस बालक को मैं जिला देता हूँ। मैंने आज तक मजाक में भी असत्य नहीं बोला है और न ही कभी युद्ध से पीछे हटा हूँ। उसी सत्य के फलस्वरूप यह बालक जी उठे।

जिस प्रकार मुझे धर्म व विशेषत: ब्राह्मण प्यारे हैं तो उसी के फलस्वरूप यह मरा हुआ अभिमन्यु का बालक जी उठे। यदि मैंने आज तक कभी विरोध नहीं किया है, तो इसी सत्य के फलस्वरूप यह मरा हुआ बालक जी उठे।

जिस प्रकार सत्य व धर्म मुझमें हर समय प्रतिष्ठित है, उसी के फलस्वरूप यह मरा हुआ अभिमन्यु का बालक जी उठे। यदि मैंने कंस और केशी को धर्म से मारा है। (न कि विरोध से) तो इस सत्य के फलस्वरूप यह बालक जी उठे। इसी प्रकार अखिल विश्वात्मा ने स्वयं भी बार-बार सत्य की शपथ दी व फलस्वरूप अभिमन्यु का यह बच्चा जिन्दा हो गया।

हमारा अनुभव है कि जो लोग मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य का पालन करते हैं, बहुत थोड़े समय में ही उनकी वाणी में शक्ति आ जाती है व क्रियाफल होने लगता है। पंजाब जिला करनाल में एक महात्मा एक जगह वास करते थे। वे अन्य अपनी सभी प्रकार की साधनाओं को करते हुए भी सत्य पालन को अपना ध्येय बनाये हुए थे। उनकी यह साधना थी कि मनसा, वाचा, कर्मणा जो भी क्रिया करते थे वे सत्य ही करते थे और अत्यन्त मृदु भाषी थे। उनकी वर्षों की साधना के फलस्वरूप उनके जीवन में सत्य चमक उठा था। वे जो भी किसी को कुछ कह दिया करते थे, सत्यदेव भगवान की कृपा से वह पूरा होता था। उनके मन में किया हुआ कोई भी दृढ़ संकल्प विफल नहीं होता था। योगिराज भगवान पतञ्जलिदेव जी के अनुसार उनकी वाणी क्रियाफल वाली हो गई थी। वे स्वयं इस बात को मानते थे कि मेरा जीवन सत्य देव की आराधना से ही पूर्ण निर्भय व अन्य सभी विघ्न-बाधाओं से रहित है। सत्य पूर्ण ब्रह्म है और उसकी आराधना स्वयं परब्रह्म की आराधना है व सब प्रकार से ओज और तेज को बढ़ाने वाली है। अत: कल्याण की अभिलाषा वाले व्यक्तियों को भगवान पतंजलि जी के बतलाये हुए दूसरे यम सत्य को अपने जीवन में पूरी तरह अपनाने का प्रयत्न करना चाहिये। सत्य ही सब कल्याणों का मूल है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! आपने जो सत्य की शास्त्रीय महिमा बतलाई, वह बिल्कुल ठीक है, किन्तु आज इस कलिकाल के जमाना में क्या कोई इस प्रकार का सत्यवादी व्यक्ति है, जिसकी वाणी सत्य हो जाती है? सफल हो जाती हो? क्योंकि अभी-अभी आपने बताया था कि— **''सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्त्वं''** अर्थात् योगी के सत्य प्रतिष्ठ हो जाने के बाद जैसा वह मुख से वचन कहता है, उसका फल तत्काल वैसा ही हो जया करता है, तो हे गुरुदेव मैं उन्हें जानना चाहता हूँ कि जिनकी वाणी में इतनी ऊँची सफलता प्राप्त हुई हो?

उत्तर : हे पुत्र! तुम्हारा प्रश्न बिल्कुल ठीक है कि इस घोर कलिकाल के जमाने में इस प्रकार के सत्यनिष्ठ व्यक्तियों का मिलना तो असम्भव ही है, किन्तु फिर भी किसी का भी बीज नाश नहीं हुआ करता। भू-मण्डल पर इस प्रकार के व्यक्ति रहते ही है, मुझे एक घटना याद आ रही है।

जिला रोहतक के एक गांव में एक महात्मा अपने भक्त समाज में कहीं गये हुए थे। वह महात्मा पूर्ण सत्यवादी थे। उनका अपने जीवन में यह अनुभव था कि जब भी वे कोई किसी प्रकार का वचन देते थे वह पूर्णतया सत्य होता था। एक बार उन्होंने कहीं जाने का अपना कार्यक्रम निश्चित किया, उसे अपने निश्चित कार्यक्रम के अनुसार वे जिस गांव में ठहरे हुए थे, वहां से ४ बजे उठकर बस-स्टैण्ड जाना था। बस-स्टैण्ड जा करके प्रात:काल ६ बज करके कुछ मिनट पर चलने वाली बस को पकड़ करके एक रेल्वे के जंक्शन स्टेशन पर पहुँचना था। वहां से एक और गाड़ी पकड़नी थी, जो वहां से ७ बजकर १५ मिनट पर छूट जाती थी। उस गाड़ी में सवार हो करके किसी अन्य छोटे स्टेशन पर लगभग ६ बजे उतरना था जहां उनके सत्संगी उनके आगमन की प्रतीक्षा में बैठे इन्तजार कर रहे थे, किन्तु

अकस्मात् घटना ऐसी घटी कि जिस गांव से प्रात:काल ४ बजे उठ करके उस गांव से लगभग ६ मील की दूरी पर प्रात:कालीन जो बस पकड़नी थी उसमें बड़ा भारी व्यवधान पड़ गया। माघ का महीना था। प्रात:काल ३ बजे ही बहुत वेग से वर्षा आरम्भ हुई, जिसमें ओले गिरने आरम्भ हुए और वह वर्षा बराबर बड़े जोरों से बरसती ही रही। श्री महात्मा जी ने बस-स्टेण्ड तक पहुँचने के लिए गांव वालों से कहकर एक बैलगाड़ी की व्यवस्था की हुई थी किन्तु इस तीव्रतम् वर्षा और शीत ऋतु के आघात के कारण गांव वाले बैलगाड़ी को ले जाने में भारी संकोच करने लगे और कहने लगे कि महाराज जी इस गहरी वर्षा में किस प्रकार बैलगाड़ी जा सकती है। सर्दी और वर्षा के कारण बैलों का तो कहना ही क्या कोई भी जिन्दा नहीं बच सकेगा और आपके बिस्तर वगैरा सब भीग जायेंगे। इसलिये कृपा करके आप अपने इस प्रोग्राम को कैंन्सिल कर दीजिये। किन्तु महात्मा जी अपना प्रोग्राम अपने किसी अन्य सत्संगियों को दे चुके थे और यदि वह इस प्रोग्राम को कैन्सिल करते हैं तो उनकी वाणी असत्य हो जाती है। ऐसी स्थिति को देखकर महात्मा जी ने उन गांव वालों से कहा कि भाई ठीक है तुम बैलगाड़ी को मत भेजो और हम अपे बिस्तर व अन्य सामान भी यही छोड़ देते हैं। तुम ये सब सामान कल या परसों तक वर्षा बन्द हो जाने के बाद यथा स्थान हमारे यहां पहुँचा देना और हम अभी छाता लेकर चलते हैं जिससे हम बस स्टेण्ड पर जाकर पहली बस को पकड़ लें, और अपने दिये हुए वचनानुसार यथा समय दूसरी जगह पर पहुँच जायें। यह कहकर वह महात्मा जी गांव वालों के बार-बार हठपूर्वक विनय करने पर भी घनघोर वर्षा में ही छाता लेकर बस स्टेण्ड जाने के लिये निकल पड़े, किन्तु बड़ा ही आश्चर्य हुआ। और वह यह कि महात्मा जी दस या बीस कदम ही मुश्किल से गांव के बाहर निकल होंगे कि तत्काल वर्षा बन्द हो गई। शुक्ल पक्ष की रात्रि थी इसलिये चन्द्रमा निकल आया। ऐसी स्थिति को देखकर गांव वालों ने भी तत्काल बैलगाड़ी को जोत लिया और महात्मा जी का सब सामान बैलगाड़ी में रखकर एवं श्री महात्मा जी को बैलगाड़ी में बैठाकर बस स्टेण्ड ले चले। किन्तु बस स्टेण्ड पहुँचते-पहुँचते जिस बस में सवार होना था वह बस निकल गई और उसके बाद में चलने वाली दूसरी बस भी निकल गई। महात्मा जी लगभग पौने आठ बजे बस स्टेण्ड पर पहुँचे। ऐसी स्थिति में साढ़े आठ या नौ बजे चलने वाली ही बस उनको मिल सकी। जिसमें सवार होकर महात्मा जी उस रेल्वे स्टेशन के लिए चल पड़े जहां से गाड़ी में जाना था। गांव वालों ने बार-बार कहा कि महाराज जी आपका यह व्यर्थ प्रयास है। वह गाड़ी तो ठीक सवा सात बजे रेल्वे स्टेशन से चली जाती है और आप यहां नौ बजे सवार हो रहे हैं। आपको यह गाड़ी किसी भी प्रकार से नहीं मिल सकती। अब की बार आप अपने वचन का पालन नहीं कर सकेंगे। किन्तु बड़ी भारी आश्चर्य की बात थी कि महात्मा जी जिस बस में सवार हुए थे उस बस में रेल्वे फाटक से निकल के ही उस शहर की ओर जाना था जहां से उन्होंने रेल्वे स्टेशन जाकर गाड़ी पकड़नी थी। जब वह बस रेल्वे लाइन को पार करने लगी तो महात्माजी को जिस गाड़ी में सवार होना था, वह गाड़ी चलने के लिये रेल्वे स्टेशन पर सीटी दे रही थी। उसकी सीटी को सुन करके गांव वालों ने कहा कि महाराज जी बड़े आश्चर्य की बात है कि गाड़ी तो अभी तक खड़ी है, किन्तु यह गाड़ी मिल तो आपको अब भी नहीं सकती। क्योंकि यह सीटी दे रही है और आप बस के द्वारा अभी शहर पहुँचेंगे और वहां तांगे या रिक्शा से स्टेशन पहुँचेंगे, वहां जाकर टिकट खरीदेंगे तभी आप गाड़ी में सवार हो सकेंगे। अभी तो आपको आधा घण्टे की देरी और लगेगी और गाड़ी चलने के नाम की सीटी दे रही है। इसलिये आप कितना भी पुरुषार्थ करलें किन्तु यह गाड़ी आपको नहीं मिलेगी। महात्मा जी ने उत्तर दिया कि अच्छा भाई! हम तो अभी कदम आगे बढ़ते हैं, किन्तु यह ईश्वराधीन है कि वह हमें मिल सकेगी या नहीं। इस प्रकार बातें करते-करते वह बस अपने शहर वाले बस-स्टेशन पर पहुँच गई। वहां उस शहर के उनके सत्संगी उस बस का इन्तजार कर रहे थे। वे समझते थे कि इसी बस में गुरु जी को आना है, बस भी दो घण्टे की देरी से यथा स्थान बस-स्टैण्ड पहुँची। वहां जो सत्संगी लोग इकट्ठे हुए थे उन्होंने कहा कि महाराज जी! प्रोग्राम कैन्सिल कर दीजिये, वह तो ४ घण्टे पहले यहां से निकल गई। अब तो आप कल की गाड़ी का प्रोग्राम निश्चित कीजिये। किन्तु महात्मा जी ने कहा कि गाड़ी चली गई होगी तो चली गई होगी, किन्तु हमें रेलवे स्टेशन को तांगा करवा दो। सत्संगी लोगों ने गुरुदेव जी की आज्ञा का उल्लंघन न करके दो तांगे करके महाराज जी को लेकर चल दिये, किन्तु रेल्वे स्टेशन पहुँच करके देखा तो बड़े ही आश्चर्य की बात थी कि वह गाड़ी खड़ी थी और चलने के लिए सीटी ही दे रही थी। महात्मा जी के सत्संगियों ने टिकट खरीद कर प्लेट फार्म पर जाकर सब सामान चढ़ा दिया व अपने गुरुदेव जी से कहा कि महाराज जी आप जरा जल्दी कीजिये गाड़ी जाने को हो रही है। किन्तु सभी सत्संगियों ने एक आश्चर्य देखा, ज्योंहि उनके गुरुदेव गाड़ी में बैठे त्योंही वह गाड़ी चल पड़ी और जहां उन्हें जाना था वहां अपने वचन के अनुसार पहुँच गये। वहां पर भी सत्संगी लोग बराबर इन्तजार में थे। महात्मा जी के वहां पहुँच जाने पर उनको बड़ा भारी उत्साह हुआ।

प्रश्न : हे गुरुदेव महाराज जी! अपने वचन के अनुसार पहुँच गये और उन्होंने अपना कार्यक्रम भी निभा लिया, किन्तु यथा समय पहुँचने में व्यवधान तो हो गया। ऐसा क्यों हुआ? सत्यवादी के रास्ते में तो व्यवधान होना ही नहीं चाहिये।

उत्तर : हां पुत्र! ठीक है यह तो बिल्कुल ठीक है, सत्यवादी के रास्ते में इतना व्यवधान भी उचित नहीं था। मैं इन महात्मा जी को भली प्रकार से जानता हूँ। पहले इनके वचन में यत्किंचित भी न्यूनता नहीं हुआ करती थी, ये पहली बार का व्यवधान ऐसा था जो हो गया। अन्यथा यह बात तो बिल्कुल ठीक है कि सत्यनिष्ठ व्यक्ति के वचनों में कभी भी अन्तरायें नहीं हुआ करतीं और सत्यवादी ही अस्तेयी बन सकता है। अस्तेय का अर्थ है चोरी नहीं करना। एक व्यक्ति यदि मन में किसी बात को छुपाता है और किसी के भले के लिये वह वाणी से कोई कृत्रिम बात मिला कर कहता है बनावट से। मन में कुछ और है और ठीक बात को मन में चुरा लेता है तब उसी का नाम चोरी है। एक प्रकार से वह अपने मानस-भावों को वाणी के द्वारा चुराता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि के अन्दर जो अस्तेय नामक यम कहा है उसमें और इस वाणी आदि की चोरी में क्या अन्तर है? एक प्रकार से मानस भावों को यदि वाणी के द्वारा किन्हीं और भावों को जाहिर करता है तो वह भी एक प्रकार की चोरी ही कहलाता है?

प्रश्न : हे पुत्र! तुम्हारी यह बात तो बिल्कुल ठीक है। वह भी वाणी के द्वारा अर्थ का चुराना ही है, किन्तु श्री पतंजलि जी महाराज ने अस्तेय नामक जो यम कहा है, उसमें मणिमाणिक्य रत्न एवं स्वर्ण आदि को ही लक्षीभूत किया है— अर्थात् किसी दूसरे की वस्तु चाहे वह तिनका ही क्यों न हो, जिससे हम सांसारिक कर्मों को कर सकते हैं और वह वस्तु दूसरे की ही है, उसका बिल्कुल-बिल्कुल न लेना ही अस्तेय कहलाता है। जिस व्यक्ति के अस्तेय के अन्दर पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है, उसको सब प्रकार से सभी वस्तुओं का अपने आप ही पूर्णरूपेण लाभ होने लगता है। इसी दर्शन में बड़े स्पष्टीकरण के साथ लिखते हैं। यथार्थ में अस्तेय धर्म भी अहिंसा एवं सत्य की ही पूरी-पूरी पुष्टि करता है। ठीक शब्दों में तो किसी दूसरे के धन को कपट, चोरी, चालाकी से या बलपूर्वक अपहरण न करने का नाम ही अस्तेय है। कदाचित् कोई व्यक्ति ऊँचे धन-धान्य की चोरी नहीं करता है और छोटी-छोटी वस्तुओं को चुरा लेता है तो यह भी चोरी ही कहलायेगी। ऐसा व्यक्ति अस्तेय प्रतिष्ठ नहीं कहा जा सकता। वस्तुत: तो—

अन्यदीये तृणे रत्ने, काञ्चने मौक्तिकेऽपिच।
मनसा विनिवृत्तिर्यातदस्तेयं विदुर्बुधा।।

अर्थात् किसी दूसरे के तृण, रत्न या मुक्ता आदि के चुराने में मन की वृत्ति न होने को अस्तेय कहा गया है। जिस व्यक्ति की अस्तेय में पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है उसको सर्व रत्न उपस्थित होने लगते हैं यद्यपि उनकी उसको कामना नहीं रहा करती।

प्रश्न : हे गुरुदेव जब किसी व्यक्ति की अस्तेय में पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है और वह व्यक्ति मनसा, वाचा कर्मणा किसी की भी चोरी नहीं करना चाहता तो उसके इतने बड़े त्याग का क्या फल निकलता है, कृपा कर इतना समझा दीजिये?

उत्तर : हे पुत्र देखो! श्री पतञ्जलि जी महाराज ने इसका उल्लेख तो अपने ही शब्दों में बिल्कुल स्पष्टीकरण के साथ किया है। पढ़ो योगदर्शन के साधनपाद का ३७ वां सूत्र-

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।

अर्थात् अस्तेय की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाने पर योगी को सब प्रकार से सब ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। रत्न आदि सभी स्वयं ही प्राप्त होने लगते हैं।

प्रश्न : हे गुरुदेव क्या ऐसे भी महापुरुष हैं जिनको कि अस्तेय प्रतिष्ठा होने पर धन-धान्य, रत्न आदि प्राप्त हुये हों? कृपाकर ऐसे महापुरुषों के बारे में मुझे समझाइये?

उत्तर : हे पुत्र! संसार में जितने परोपकारी पुरुष हुए हैं वे सब अस्तेय प्रतिष्ठ के ही ऊँचे उदाहरण हैं। हमारे प्राचीन इतिहास में तो ऐसे महापुरुषों की गणना की तो कमी है ही नहीं, किन्तु कलिकाल में भी महात्मा गांधी आदि के जीवन को देखो। यह सत्य अहिंसा एवं अस्तेय आदि के पूरे-पूरे पुजारी रहे और यह तुम स्वयं ही विचार लो उन्हें कौन-कौनसी संपत्तियां प्राप्त नहीं हुयीं? लोगों ने उन लोगों की स्मृतियों में अरबों रुपया खर्च कर दिया और अब भी खर्च करते जा रहे हैं। यही सर्व रत्नोपस्थान का यथार्थ अर्थ है।

शिष्य : हे गुरुदेव! आपके व्याख्यान से परम सन्तुष्टि हुई। मैंने सत्य अस्तेय एवं अहिंसा के सही-सही अर्थों को भली प्रकार से समझ लिया है। मैं अब यह भरसक प्रयत्न करूँगा कि यह तत्व मेरे जीवन में पूरी तरह से घटित हो जाये। हे गुरुदेव! आपके यह पवित्र उपदेश मेरे जीवन को परम पवित्र बना रहे हैं। वस्तुत: यदि मैं आपके उपदेशानुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि का पूर्ण पालन कर अपने आपको योगी बना सकूँ? पूज्य गुरुदेव! मैंने यह भली प्रकार से समझ लिया है कि इन साधनाओं को अपने जीवन में घटित करूँगा, तो अवश्य ही कृत-कृत्य हो जाऊँगा। मेरे मन में यह भली प्रकार से समा चुकी है कि अहिंसा सत्य आदि का पालन करने वाला व्यक्ति अवश्य ही पूर्णरूपेण कृतार्थ हो सकता है। हे गुरुदेव! आप कृपा कर मुझे आशीर्वाद दीजिये कि मैं इन साधनाओं के लिये भली प्रकार सफल हो सकूँ। आपकी कृपा से ही ये सब साधनायें सफलता के उच्चतम लक्ष्य पर पहुँचा सकती हैं।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

परम पवित्र भागीरथी के तट पर आज बड़ी ही धूमधाम है। मालूम पड़ता है आज यहां कोई उत्सव मनाया जा रहा है। स्थान-स्थान पर स्वागत-द्वार बने हुए हैं और उन द्वारों के ऊपर ऊँची-ऊँची ध्वजायें लहरा रही हैं। साधु-महात्मा, संन्यासियों की बड़ी ही भीड़-भाड़ दिखाई दे रही है। क्यों— यहाँ आज क्या बात है? यह स्थान तो विरक्त महात्माओं से सेवित था, पर आज ऐसा अनौखा भीड़ भरा दृश्य क्यों है— यह समझ में नहीं आ रहा है? स्थान-स्थान पर शुभ्र-वस्त्रों पर लिखे हुए वेदमन्त्र आज क्यों दिखलाई दे रहे हैं?

आज तो श्री योगाचार्य तपोनिधि जी के आश्रम में एक दिव्य-मंत्र सजा हुआ है। इस मंच पर कितने ही तेजस्वी साधु-महात्मा इकट्ठे दिखाई दे रहे हैं। वह देखो कोई भजनोपदेशक बड़े ही स्वर लालित्य के साथ गा रहा है—

हरी हर जगह मौजूद है, पर वह नजर आता नहीं,
यो-साधन के बिना, कोई इसे पाता नहीं।।

इस गायन के पश्चात् व्यवस्थित रूप से महात्माओं के प्रवचन मंत्र पर चलने लगे। इतने में ही एक ओर से अकस्मात् ऊँची ध्वनि सुनने में आयी :—

''कर योग लो जनम सुधार, बहनों और भाइयो!''

यह शिक्षाप्रद उद्बोधक ध्वनि आ रही है— किसी परम तेजस्वी ब्रह्मचारी समुदाय के एक अग्रणी ब्रह्मचारी की जो अपने सत्संगी समुदाय सहित अपने श्री गुरुदेव जी के दर्शनों की उत्कण्ठा में बड़े वेग से चला आ रहा था। इस समुदाय के आगमन को देखकर थोड़ी देर के लिये मंच पर बैठे हुए वक्ताओं ने मौन धारण कर लिया और बड़ी ही उत्सुकता के साथ वे देखने लगे ब्रह्मचारियों के आगन्तुक समुदाय को। अग्रगन्ता ब्रह्मचारी हैं चि. वेदप्रकाश जो अपने सहस्रों सत्संगियों की भीड़ के साथ विभिन्न प्रान्तों से योग-प्रचार करते हुए अपने गुरुदेव जी के दर्शनार्थ आश्रम में पधारे हैं। ब्रह्मचारी वेदप्रकाश जी ने अपने गुरुदेव जी का दर्शन प्राप्त किया एवं श्री गुरुदेव जी की आज्ञा पा कर वे एक और आसन पर आसीन हो गये। साथ में आने वाला जन-समूह भी यथा स्थान शान्ति से बैठ गया। आश्रमवासी ब्रह्मचारियों ने इन सभी लोगों को ठहरने की व्यवस्था पर्ण-कुटीरों में, तथा बड़े-बड़े टेण्टों व छोलदरियों में कर डाली और सभी को यथा स्थान ठहरा दिया। वातावरण शान्त हो जाने के पश्चात् योग-मंच पर योग-प्रचार का कार्य आरम्भ हुआ। कुछ अन्य विद्वानों के भाषण हो चुकाने के बाद श्री आचार्य तपोनिधि जी का उपसंहार भाषण आरम्भ हुआ। इनके आज के भाषण का विषय था- भव-प्रत्यय और उपाय-प्रत्यय का अर्थ। यानी भव-प्रत्यय वाले योगी कैसे होते हैं तथा उपाय-प्रत्यय के कैसे होते हैं?

योग-मंच पर आने वाले विद्वानों ने इसी सम्बन्ध में अपने-अपने विभिन्न प्रकार के विचार प्रगट किये थे और भव-प्रत्यय व उपाय-प्रत्यय के विषय पर विविध प्रकार की व्याखाएँ भी कीं। सभी के भाषणों का समाहार करते हुए तपोनिधि जी ने अपने भाषण में बताया कि भव-प्रत्यय शब्दी का अर्थ ही यह है कि साधक को जन्म ग्रहण करने मात्र से ही योग की प्रतीति हो जाय, बस— इसी को भव-प्रत्यय कहते हैं। यदि योगी अपने विविध प्रकार की साधनाओं के बल से योग को प्राप्त होता है तो यह उपाय-प्रत्यय वाला योगी कहलाता है। हम अनेक ऐसे साधकों को जानते हैं, जिनको संसार में जन्म लेने मात्र से ही योग ज्ञान हो गया और वे समाधिस्थ हो करके बैठ गये। ऐसा भव-प्रत्यय विदेह एवं प्रकृतिलीन योगियों को हुआ करता है पर उपाय प्रत्यय की साधना तो प्रत्येक जिज्ञासु साधक को करना अनिवार्य हो जाती है। यह उपाय प्रत्यय वाले योगी अपने-अपने अभ्यासों को बढ़ाते हुए, योगांगों का पूर्णरूपेण पालन करते हुए समाधि-प्रज्ञा को प्राप्त कर पाते हैं एवं अपने-आपको स्थिति-प्रज्ञ बना करके तथा इन्द्रियों पर पूर्ण निग्रह करके जीवन को संयमित बनाते हुए अपने आपको परम लक्ष्य की ओर बढ़ा ले जाते हैं, इसी साधना का नाम उपाय प्रत्यय है। भव-प्रत्यय वाले योगी भी जिनको जन्म से ही योग स्थिति प्राप्त हो गई हैं, वे अपने पूर्वाभ्यासों से प्रेरणा करके योग ध्यान की ओर बढ़ते चले जाया करते हैं और भगवान श्रीकृष्ण के कथनानुसार— **''अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परांगतिम्''** के नियमानुसार अपने चरम लक्ष्य समाधि को प्राप्त करके कृत-कृत्य हो जाया करते हैं।

योगाचार्य श्री तपोनिधि जी ने अपने भाषण में भव-प्रत्यय और उपाय-प्रत्यय के इस भेद को भली प्रकार अपने उपसंहार भाषण में समझा दिया। इसके पश्चात् उन्होंने योगमंच से आज का कार्यक्रम समाप्त घोषित कर दिया।

दूकरे दिन के योग-प्रचार के कार्यक्रम के आरम्भ में ही आकर एक शिष्य ने विनम्रता से कहा—

प्रश्न : गुरुदेव! कल आपका पवित्र प्रवचन ध्यानपूर्वक सुना था। आज पुनः भव-प्रत्यय का स्वरूप कृपा करके आपने अज्ञान बालक को समझाइये कि भव-प्रत्यय का सही अर्थ क्या है और वह भव-प्रत्यय किस-किसको हुआ करता है?

श्री तपोनिधि जी ने कहा पुत्र सुनो! तुमने भली प्रकार सुन तो लिया है, किन्तु शब्द-जाल के फेर में पड़कर तुम समझ नहीं पाये हो। अतः अब हम तुम्हें फिर से समझा रहे हैं। कल के व्याख्यान में जिन समाधियों का हमने वर्णन किया था वे दोनों प्रकार की समाधियां सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात साधक को दो प्रकार से तथा दूसरे उपाय-प्रत्यय से। अब हम तुम्हें केवल भव-प्रत्यय वाली बात को समझाते हैं। सुनो! भगवान पतंजलिदेव जी ने कहा है—

(1) भव प्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्, व

(2) श्रद्धावीर्य स्मृतिसमाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

इस दो सूत्र के अनुसार संसार में जन्म लेने वाले प्राणियों को इस योग की प्रतीति दो ही प्रकार से होती है। एक प्राणी वे हैं जो अपने जन्म-जन्मांतरों के अभ्यास से सम्प्रज्ञात योग की वितर्क और विचारानुगत समाधि में पूर्णतः प्रविष्ट हो चुके हैं और बाद में अभी निर्बीज समाधि तक नहीं पहुँच पाये थे इसलिये अभी उन्हें विवेक-ख्याति नहीं हुई थी। इतनी अवस्था में ही उनका देहपात हो गया। ऐसे योगी भी दो प्रकार के होते हैं उनमें एक वे जो विदेह व दूसरे वे जो प्रकृतिलीन कहकर पुकारे जाते हैं। इनमें विदेह— वे कहलाते हैं जो वितर्क समाधि द्वारा स्थूल महाभूतों का और उनके विशेषों का पूर्ण-साक्षात्कार कर चुके होते हैं। इसलिये वे शरीर की असलियत को समझ कर देहाभिमान से शून्य हो जाते हैं पर इतनी साधना के बाद उनका शरीर छूट गया और सम्प्रज्ञात योग की आगे की सीढ़ियों तक वे नहीं पहुँच सके। ऐसी दशा में वह लोग विदेह कहलाते हैं तथा देवकोटि में माने जाते हैं।

दूसरे प्राणी वे होते हैं जो प्रकृतिलीन कहलाते हैं यानी वे योगी होते हैं जो स्थूल महाभूतों और उनके गुणों का पूर्ण साक्षात्कार करते हुए निर्विचार समापत्ति में पंच तन्मात्र अहंकार और महत्तत्व एवं प्रकृति का साक्षात्कार कर चुके हैं तथा अभी यह प्रकृति के इन सूक्ष्म तत्वों का साक्षात्कार करते हुए इन्हीं में लीन रहे हैं आगे की भूमिकाओं को तय नहीं कर पाये हैं अचानक देहपात हो गया, इसलिये वे लोग प्रकृतिलीन कहलाते हैं ये भी प्राणी देव-कोटि में माने जाते हैं इसलिये भगवान व्यासदेव जी ने इन लोगों के लिये-

विदेहानां देवानां भव प्रत्ययः तेहि स्वसंस्कार मात्रोपगेन चित्तेन कैवल्य पदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कार विपाकं तथा जातीयकमीतवहयन्ति तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्य पदमिवानु-भवन्ति यावन्न पुनरावर्त्ततेऽधिकार वशाच्चित्तमिति।

कैवल्य पदमिवानुभवन्ति कह करके भगवान व्यासदेव जी ने इनको मुक्ति पद में तो नहीं माना किन्तु मोक्ष जैसी स्थिति को ये लोग प्रकृतिलीन होते हुए भी मोक्ष पद जैसा अनुभव करते हैं क्योंकि अभी इनका ग्रन्थिभेद नहीं हुआ अर्थात् विवेक-ख्याति को प्राप्त नहीं हुए हैं। इसलिये इनका चित्त साधिकार है और अधिकारवश इन लोगों का संसार में जन्म होता रहता है। क्योंकि पिछले जन्म-जन्मान्तरों में इनकी योग में ऊँची प्रगति रही थी और इसलिये बहुत लम्बे समय तक ये विदेह, प्रकृतिलीन रहते हुए भी अपने आपको मुक्त आत्माओं की तरह अनुभव करते रहे थे। बुद्धि के आह्लाद, आमोद-प्रमोद आदि विशेष भावों में लीन हुए अपने आपको आनन्दमग्न मोक्ष रूप देखते रहे थे किन्तु विवेक ज्ञान के हुए बिना इनका चित्त साधिकार है, इसलिये इन्हें संसार में दुबारा जन्म लेना पड़ता है और जन्म से ही इनको पूर्वजन्म-जन्मान्तरों में जो अभ्यास किया था उसकी प्रतीति होने लगती है। अर्थात् उस स्थिति को पुनः पा करके जल्दी ही अपने पूर्व लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। इन लोगों की कुछ हानि नहीं हुई, क्योंकि ये लोग विदेहावस्था में व प्रकृतिलीन अवस्था में परमानन्द में रहते रहे तथा जन्म लेने पर अनेक जन्मों में किया हुआ अभ्यास सामने आया और पुनः उसी योग समाधि में प्रवृत्त हो गये। इसी प्रकार का प्रश्न गीता के छठवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण जी से अर्जुन ने किया—

अयतिः श्रद्धयोपेतो, योगाच्चलित मानसः।
अप्राप्य योगससिद्धिं कां, गतिं कृष्ण गच्छति।।
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो, विमूढ़ो ब्रह्मणः पथि।।
एतन्मे संशयं कृष्ण, छेत्तु मर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य, छेत्ता न ह्युपषद्यते।।

— गीता ६/३६-३८-३९

अर्थात् हे श्रीकृष्ण! जो व्यक्ति श्रद्धा से युक्त है और अपने आपको काबू में नहीं रख सका है और योगाभ्यास करते-करते जिसका मन विचलित हो गया है, वह योग सिद्धि को न पा करके किस गति को प्राप्त होता है? कदाचित् उभय भ्रष्ट हो करके फटे हुए बादल की तरह से नष्ट-भ्रष्ट तो नहीं हो जाता, क्योंकि अभी उसने अपने स्वरूप में स्थिति नहीं पाई और ब्रह्म-ज्ञान को नहीं पा सका। मेरे इस संशय

को नाश करने वाला आपके सिवाय दूसरा कोई नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान श्रीकृष्ण जी ने कहा है—

पार्थं नैवेह नामुत्र, विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्, दुर्गतिं तात गच्छति।।
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे, योगभ्रष्टोऽभिजायते।।
अथवा योगिनामेव कुले, भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके, जन्म यदीद्दशम्।।
तत्र तं बुद्धि संयोगं, लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः, संसिद्धौ कुरुनन्दन।।
पूर्वाभ्यासेन तेनैव, ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।।
जिज्ञासुरपि योगस्य, शब्द ब्रह्मातिवर्तते।।
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी, संशुद्ध किल्विषः।
अनेकजन्म संसिद्धस्ततो, याति परां गतिम्।।

— गीता ६/४०-४१-४२-४३-४४-४५

अर्थात् हे श्रीकृष्ण! ऐसे पुण्यात्माओं का इस लोक व परलोक में कहीं भी पतन नहीं होता। कोई भी शुभ कर्म करने वाला दुर्गति को प्राप्त नहीं हो सकता। वे लोग पवित्र पुण्यात्माओं के लोकों को प्राप्त होकर और बहुत समय तक वहाँ रहकर पुनः पवित्र श्रीमानों के घरों में ही जन्म ग्रहण करते हैं या बुद्धिमान योगियों के घरों में ही जन्म होता है। इस मनुष्य लोक में इस प्रकार का जन्म ग्रहण फरना भी अत्यन्त दुर्लभ है और ऐसा जन्म हो जाने के बाद उन योगियों को अपना पौर्व दैहिक बुद्धि संयोग प्राप्त होता है और बुद्धि संयोग को पा करके वे लोग पुनः सिद्धि के लिये प्रयत्न करते हैं, क्योंकि पूर्व जन्मों में उन्होंने इस प्रकार का योगाभ्यास किया था, इसी कारण विवश हो करके उनको इस मार्ग में लगना पड़ता है। योग-मार्ग का जिज्ञासु भी कर्म-काण्ड के विषय से ऊँचा उठ जाता है और प्रयत्नपूर्वक यत्न करता हुआ अपने सब पापों को धो करके अनेक जन्मों के प्रयत्न से परमगति पा लेता है। इसीलिये भगवान पतंजली जी की आज्ञानुसार जो लोग सम्प्रज्ञात समाधि में ही किसी प्रकार से विफल हो जाते हैं और निर्बीज समाधि को प्राप्त नहीं हो पाते हैं उनको जन्म से ही इस योग की प्रतीति होती है और वे इसी हेतु से अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं।

शिष्य ने फिर कहा— ''हे गुरुदेव! आपने अपने मुखारविन्द से पिछले व्याख्यान में कहा था कि भव-प्रत्यय विदेह और प्रकृतिलीन व्यक्तियों को हुआ करता है और उपाय-प्रत्यय योगियों के लिये हुआ करता है, सो कृपा करके मुझ अज्ञानी के लिये उपाय-प्रत्यय का और वर्णन कर दीजिये। ताकि मैं आपकी कृपा को प्राप्त करके अपने परम पद के लिये प्रयत्नशील भी बन सकूँ।

उत्तर : हे पुत्र! सुनो—

उपाय प्रत्ययो योगिनां भवति।

कह करके भगवान व्यासदेव जी ने योगारम्भ करने वालों को उपाय-प्रत्यय का निर्देश किया है और उसमें—

श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

संसार में जन्म लेने वाला हरेक प्राणी योग की महान महिमा और योग के अनेक विधि, ऐश्वर्य, अनेक प्रकार की गतियों के चमत्कारिक व्याख्यान को सुनता है तो उसके मन में योग के प्रति श्रद्धा पैदा होती है।

श्रद्धा के विषय में भगवान व्यासदेव जी लिखते हैं—

श्रद्धा-चेतसः सम्प्रसादः सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति।

अर्थात् मनुष्य को जिस विषय में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है तो वह माता की तरह उसकी रक्षा करती है, किन्तु सारे संसार के प्राणी श्रद्धावान बन जाएँ यह असम्भव है। सत्वानुरूप प्राणीमात्र के अन्दर श्रद्धा हुआ करती है। भगवान श्रीकृष्ण जी ने गीता के सत्रहवें अध्याय के तीसरे श्लोक में स्पष्ट शब्दों लिखा है—

सत्वारूपा सर्वस्य, श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो, यच्छ्रद्धः स एव सः।।

— गीता १७/३

यानी सत्वानुरूप प्राणीमात्र की श्रद्धा होती है, उस परम पुरुष परमात्मा का रूप भी श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा है, वैसे ही उस परमात्मा का स्वरूप है। अविचल श्रद्धा प्राप्त हो जाने पर योगी के मन में बल प्राप्त होता है। सूत्र है- श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

इस सूत्र पर व्यास-भाष्य की पंक्तियां—

उपायप्रत्ययो योगिनां भवति। श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः। सा हि जननीव कल्याणी योगिन पाति। तस्य हि श्रद्धधा नस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते। समुपाजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते। स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते। समाहितचित्तस्य प्रजा विवेक उपावर्तते। येन यथावद्धस्तु जानाति तदभ्यासात्ततद्विषयाच्च। वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति।।20। ते खलु नवयोगिनो मृदुमध्याधि-मात्रोपाया भवन्ति। तद्यथा मृदूपायो मध्यो-पायोऽधिमात्रोपायश्च।।20।।

अर्थात् विवेक ज्ञान की इच्छा करने वाले श्रद्धावान व्यक्ति को शनैः-शनैः श्रद्धा दृढ़ होती चली जाती है एवं श्रद्धा के दृढ़ हो जाने के बाद स्मृति का उपस्थान हो जाता है और स्मृति कायम हो जाने के बाद चित्त निर्विध्न समाधिस्थ हो

जाता है। चित्त के समाधिस्थ हो आने के बाद व्यक्ति वस्तु की यथार्थता को जानने वाला बन जाता है।

साधक शिष्य ने पुनः पूछा— हे गुरुदेव! आपने कृपा करके समझाया कि विवेक ज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा करने वाले श्रद्धालु को पहले दृढ़ता पैदा होती है और उसके बाद स्मृति का उपस्थान होता है और स्मृत्युप्रस्थान होने के बाद निर्विघ्न चित्त समाधिस्थ हो जाता है, जिससे मनुष्य वस्तु की यथार्थता को जान जाता है। हे गुरुदेव! मैं श्रद्धा के विषय में पूर्णरूपेण समझ चुका हूँ, किन्तु स्मृत्युपस्थान का अर्थ अभी तक समझ में नहीं आया कि स्मृति क्या चीज होती है और उसके उपस्थान हो जाने के बाद चित्त निर्विघ्न समाधिस्थ हो जाता है? इस विषय में स्मृति का इतना उत्कृष्ट प्रभाव क्यों है?

उत्तर देते हुए तपोनिधि जी ने कहा हे पुत्र! देखो, तुम्हारी शंका बिल्कुल ठीक है। मैं तुम्हें शास्त्रोक्त विधि से पहले स्मृत्ति के अर्थ को समझाता हूँ जिसको समझ करके तुम भली प्रकार से जान जाओगे कि स्मृत्यु। प्रस्थान का क्या परिणाम हुआ करता है देखो योग दर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव ने—

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः।

कह करके स्मृति का लक्षण लिखा है इसका शाब्दिक अर्थ यह है कि जिन विषयों को हमने देख लिया व सुन लिया है वे सारी की सारी बातें मन में ज्यों की त्यों कायम रहें उनका मन से किसी भी प्रकार से खात्मा न हो इसी का अर्थ है अनुभव हुए विषय का न चुराया जाना। श्री व्यासदेव जी महाराज ने अपने भाष्य में इस शब्द की व्याख्या निम्न प्रकार से की है। व्यास भाष्य की इन पंक्तियों को तुम अपने मन में खूब विश्वास के साथ पढ़ो। व्यास भाष्य की पंक्तियां ये हैं—

किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति, आहोस्विद् विषयस्येति। ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भा-सस्तथाजातीयकं संस्कारमारभते। स संस्कारः स्व व्यञ्जकाञ्जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिका स्मृतिं जनयति। तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः ग्राह्या-कारपूर्वा स्मृतिः, सा च द्वयी भावितस्मर्तव्या चाऽभावितस्मर्तव्या च, स्वप्ने भावित स्मर्तव्या जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्तव्येति।

सर्वाः स्मृतयः प्रमाण विपर्ययविकल्प निद्रास्मृतीना-मनुभवात् प्रभवन्ति। सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःख-मोहात्मिकाः सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः। सुखानुशयी रागः, दुःखानुशयी द्वेषः, मोहः पुनर-विद्येति। एताः सर्वाः वृत्तयो निरोधव्याः। आसां निरोधे सम्प्रज्ञातो वा समाधिर्भवति, असम्प्रज्ञातो वेति।

भाष्यकार स्वयं ही एक प्रश्न करता है और उसका उत्तर भी वह स्वयं देता है कि चित्त पहले ज्ञान का स्मरण करता है या पहले ज्ञान के विषय का। उदाहरण के तौर पर जैसे गौ यह शब्द है और सींग वाला, पूँछ वाला, सफेद रोम वाला ऐसे पशु को गौ कहते हैं। यह उसका ज्ञान है, और गौ की आकृति उस ज्ञान का लक्ष्य है। भाष्यकार का प्रश्न है कि चित्त पहले ज्ञान का स्मरण करता है या ज्ञान के विषय का। उसका उत्तर भी वह स्वयं समझ रहे हैं। विषय में लगा हुआ ज्ञान ग्राह्य और ग्रहण दोनों को एक साथ ग्रहण करने वाला चित्त उभयाकार स्मृति को पैदा करता है। वहां पर ज्ञान को ग्रहण करने वाली पहले बुद्धि होती है और ग्राह्याकार विषय को धारण करने वाली स्मृति कहलाती है। वह स्मृति भावित स्मृति और अभावित दो प्रकार की होती है। जैसे स्वप्न काल में मनुष्य भावित विषयों का ही स्मरण करता है अर्थात् स्वप्न में उन्हीं विषयों का ज्ञान सामने आया करता है जो देखे हुए व सुने हुए विषय होते हैं। और जाग्रत काल में मनुष्य जिस-जिस विषय को देखता है या सुनता है उस-उस प्रकार की स्मृति उसके मन में कायम हो जाया करती है। ये सब प्रकार की स्मृतियां प्रमाण-विपर्यय, निदा-स्मृति आदि के अनुभवों से हुआ करती हैं और चित्त की सभी वृत्तियां सुख-दुःखों के आधार वाली होती हैं जिनका क्लेशों के व्याख्यान में पूर्णरूपेण स्पष्टीकरण हो सकेगा। जिस व्यक्ति को समाधि के बल से स्मृत्युप्रस्थान हो गया है उस व्यक्ति को अपने जन्म-जन्मान्तरों के बोध स्वतः ही मस्तिष्क में कायम रहा करते हैं। यही स्मृत्युप्रस्थान की खास पहचान है। इसलिये योगी अपने संयम के बल से अपने जन्म-जन्मान्तर की अनुभव की हुई बातों का स्मरण कर सकता है। वह भली प्रकार से जान लेता है कि मैं कौन था और कहां था। इसीलिए यह कहा गया हे कि—

''यस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति।'

प्रश्न : हे गुरुदेव! यह तो ठीक है कि श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि आदि यह सारा का सारा क्रम मनुष्य को निर्विकल्प समाधि तक पहुँचाने के क्रम हैं। किन्तु मनुष्य प्रयत्न करे तो वह कैसे करें? कृपा करके प्रयत्न वाली बात और समझा दीजिये।

उत्तर : हां पुत्र! देखो इसमें भी लगन की बात है। जिस साधक का उपाय भी तीव्र हो और लगन भी तीव्र हो तो वह व्यक्ति जल्दी सफलता को प्राप्त कर लिया करता है। इस प्रकार का अभ्यास करने वाले योगियों में भी तारतम्य देखने में आता है, उनमें से (१) मृदु उपाय, (२) मध्योपाय (३) अधिमात्रोपाय से ये योगी तीन प्रकार के होते हैं और उनमें भी मृदु उपाय वाले योगी तीन प्रकार के होते हैं— (१) मृदु संवेग (२) मध्य संवेग (३) तीव्र संवेग। इसी प्रकार से मध्योपाय वाले योगी भी तीन प्रकार से होते हैं—

(१) मदु संवेग, (२) मध्य संवेग, (३) तीव्र संवेग। यह सब मिला करके नौ प्रकार के हो गये। इनमें से जो योगी अधिमात्रोपाय वाले तीव्र संवेग वाले हैं, उनको शीघ्रातिशीघ्र समाधि लाभ तथा समाधि का फल प्राप्त होता है।

तीव्र संवेगानामासन्नः।

अर्थात् जिस योगी का उपाय तीव्र होता है और उसका प्रयत्न भी तीव्र होता है, उसको शीघ्रातिशीघ्र समाधि लाभ हो सकता है और जिसके पिछले कर्म से संस्कारवश समाधि प्राप्ति के लिये मृदु उपाय मिला और प्रयत्न भी हल्का है उस हालत में उतना ही विलम्ब समाधि में होगा। इसी प्रकार मध्योपाय वाले तथा मृदु संवेग वाले को उतनी ही देर लगेगी। जैसा जिसका तीव्र संवेग या तीव्र उपाय है, उतनी ही जल्दी समाधि और समाधि के फल को प्राप्त कर सकता है। निर्बीज समाधि की प्राप्ति के लिये दो प्रकार के खास उपाय हैं, जो भगवान पतंजलि जी ने लिखे हैं, उनका वर्णन कर दिया गया। भव-प्रत्यय वाला योगी कोई विरला ही होता है और उसको अपने पूर्व संस्कारवश उसी प्रकार के उपाय, उसी प्रकार के सहवास, सत्संग, उसी प्रकार का तीव्र बुद्धियोग प्राप्त हो जाना आवश्यक होता है, किन्तु जो लोग उपाय-प्रत्यय प्रारम्भ करते हैं, उनके अन्दर श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि आदि का क्रमशः होना परम आवश्यक है। इस छोटे से लेख में सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों समाधियों का संक्षेप में वर्णन कर दिया गया है। इसी का नाम योग है न कि अनेक प्रकार की छोटी-छोटी राजस-तामस आदि उपासनाओं का करने वाला योगी कहला सकता है। इस स्थिति में जाकर जीव परम कल्याण को प्राप्त होता है। मनुष्य को जब तक निर्बीज समाधि प्राप्त नहीं होती, तब तक उसका परम पुरुषार्थ सीमा तक नहीं पहुँच सकता, किन्तु मनुष्य को धैर्यपूर्वक प्रयत्नशील बना रहना चहिये। धैर्य से जो अपने साधन में लगे रहते हैं वे अवश्य ही अपने लक्ष्य को आप्त कर लेते हैं। भगवन श्रीकृष्ण के निम्नलिखित वाक्यों को याद रखते हुए मनुष्य को प्रयत्नशील बना रहना चाहिये।

प्रयत्नाद्यमानस्तु योगी, संशुद्धि किल्विषः।
अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो, याति परां गतिम्।।

अर्थात् जिस व्यक्ति का अधिमात्रोपाय व तीव्र संवेग नहीं है, वह अपने मन्द प्रयत्न के द्वारा भी निर्बीज समाधि रूप परम गति को पा लेता है। फिर जिनके संस्कार उत्तम हैं, उनका तो कहना ही क्या। सबसे खास बात तो यह है कि मनुष्य योग-सिद्धान्तों को समझ ले और दृढ़ता से उसमें संलग्न हो जाय, भगवान की आज्ञा है—

जिंज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मतिवर्तते।

केवलमात्र योग का जिज्ञासु ही कर्मकाण्ड के विषय से निकल जाता है और जो लोग योग सिद्धान्तों को समझ करके गुरु के बतलाये मार्ग के अनुसार शास्त्र विधि से योगाभ्यास करते हैं उनके परम-कल्याण में तो शङ्का ही क्या हो सकती है।

अर्थात् योग का एक जिज्ञासु भी कर्मकाण्डियों के दायरे से आगे निकल जाया करता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! आपने पिछली बार अपने भाषण में यह कहा था कि योगी का दर्जा तपस्वियों से, ज्ञानियों से एवं कर्मकांडियों से सबसे उत्कृष्ट होता है। क्या यह बात बिल्कुल ठीक है? क्योंकि ये संन्यासी महात्मा और लोग तो यही कहते हैं कि ज्ञानियों का दर्जा ऊँचा ही होता है?

उत्तर : हे पुत्र! ऐसी बात ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान शब्द ज्ञा धातु से अवबोधनार्थ में बनता है। इसलिये ज्ञान शब्द का अर्थ तो किसी वस्तु के यथार्थ जानकारी तक सीमित रहता है। उसके बाद तदनंतर प्रवेश की क्रिया का नाम ही योग है। देखो भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि—

भक्त्या मागभि जानाति, यावन्नयद्यास्मि तत्वतः।
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा, विशते तदनन्तरम्।।

अर्थात् भक्ति से मनुष्य जान लेता है कि मैं जितना जैसा तत्व से हूँ और तत्व से पूर्णरूपेण जान लेने के बाद ही मुझ में प्रवेश कर जाता है। यह प्रवेशन् क्रिया जो है, इसी का नाम यथार्थ में योग है। इसलिये योग-विद्या ही एक ऐसी विद्या है जिसको जान करके मनुष्य यथार्थ ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

शिष्य— हे गुरुदेव! आपके परम पवित्र योगोपदेश को सुन करके मेरी शंकायें बिल्कुल निर्मूल हो चुकी हैं। अब मैं आपकी आज्ञानुसार अवश्य ही पूर्णरूपेण योग का अभ्यास करूँगा। कृपाकर मेरा कल्याण कीजिये और पराशक्ति की दात्री निश्रेयस्करी योग-विद्या में मेरा प्रवेश कराइये। मैं आपकी कृपा को पाकर अवश्य-अवश्य कृत-कृत्य हो जाऊँगा।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

नियमों की साधना

प्रश्न : हे गुरुदेव! मैंने आपके मुखारविन्द से यमों की व्याख्या बहुत मन लगा करके सुनी। आपके उस व्याख्यान के अनुसार मैं ५ यमों को अपने जीवन में पूरी-पूरी तरह पालन करने का प्रयत्न करूँगा। अब आप मुझे कृपा करके नियमों के बारे में समझाइये। इन नियमों का क्या नाम है और उनका पालन किस प्रकार से किया जा सकेगा?

उत्तर : हे पुत्र सुनो! तुम्हारा यह बहुत ही शुद्ध विचार है। यमों की साधना के साथ-साथ नियमों की साधना की भी बहुत ही आवश्यकता है। इसलिये नियमों को समझाते हैं। श्री पतञ्जलि जी महाराज ने अपने योग-दर्शन में जिस प्रकार से पांच यमों का उपदेश दिया, उस ही प्रकार से पांच नियमों का भी उपदेश दिया है—

शौच सन्तोष तपः स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधानानि नियमाः।

अर्थात् शौच : शुद्धि करना, मन में सन्तोष रखना, तपस्या करना, स्वाध्याय करना और ईश्वर को आत्म-निवेदन करना, ये सब नियम हैं। यदि योगी इन निमयों का पालन भी यमों की तरह से बराबर करता है तो उसको अन्य अंगों के पालन करने की आवश्यकता नहीं रहती। यम और नियमों का यह जोड़ा है। यदि साधक अपने जीवन में पूर्णरूपेण इन्हें उतार लेता है तो वह अवश्य ही योगी बन जाता है। नियमों में सबसे पहला नियम शौच का है। शौच की पराकाष्ठा में तो भगवान पतञ्जलिदेव ने—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।

(योग-सूत्र ३-५५)

अर्थात् कैवल्य लाभ करने तक मनुष्य शुद्धि की साधना करता ही रहता है। जब प्रकृति और पुरुश की बिल्कुल शुद्धि हो जाती है तो मनुष्य मुक्ति पा जाता है। शुद्धि की पराकाष्ठा में प्रकृति और पुरुष का अपने-अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना ही है। किन्तु यह तो शुद्धि का अन्तिम परिणाम है। जिस प्रकार से एक विद्यार्थी वर्णाक्षरी से अध्ययन करना आरम्भ करता है और पढ़ता-पढ़ता बाद में एम.ए. और आचार्य तक की डिग्रियां उपलब्ध कर लिया करता है इसी प्रकार से मनुष्य शुदिध की सीमा को बढ़ाता हुआ प्रकृति और पुरुष के शुद्धि-साम्य तक बढ़ जाया करता है, किन्तु वर्णाक्षरी बोध को प्राप्त करने वाले विद्यार्थी की तरह साधक को शुद्धि की पराकाष्ठा तक पहुँचने के लिये पहले से ही अपनी शारीरिक एवं आभ्यान्तर शुद्धि को उत्तरोत्तर बढ़ाते रहना चाहिये।

शुद्धि दो प्रकार की मानी गई है- योगिराज श्री याज्ञवल्क्य जी ने शुद्धि के दो प्रकारों का वर्णन इस प्रकार से किया है—

शोचं तु द्विविधं प्रोक्तं, बाह्याभ्यान्तर तथा।
मृज्जलाभ्यां स्मृत बाह्यं, मनः शुद्धि स्तथान्तरम्।।

अर्थात् शौच बाह्य और आभ्यान्तर भेद से दो प्रकार का है। बाह्य, शौच, मिट्टी, जल आदि के द्वारा किया जाता है और दूसरा मन की शुद्धि से होता है। बाह्य शौच के भी बाह्याभ्यन्तर रूप से दो भेद माने जाते हैं। जैसे बाह्य शौच में ठीक समय पर मल-त्याग, दन्त-धावन, हाथ, कान, नाक, मुँह, नेत्रादि सब इन्द्रियों की बाह्य पवित्र जल आदि से शुद्ध करके शरीर स्नान करना तथा आभ्यान्तर शौच में शरीर के भीतर के सब अवयवों की षट-कर्मों के द्वारा शुद्धि करना। जैसे नासिका से सूत्र नेति करने पर मस्तिष्क की शुद्धि और धौति-कर्म के द्वारा आमाशय की शुद्धि, न्यौली-कर्म के द्वारा अग्नि आशय, पक्वाशय आदि की शुद्धि, बस्ती-कर्म के द्वारा मलाशय की शुद्धि, बज्रोली के द्वारा मूत्राशय की पूर्ण शुद्धि होती है, यह सब बाह्य शौच का ही विस्तार है। मृज्जलादि के द्वारा बाह्य शरीर हाथ-पैर आदि की पूर्ण शुद्धि की जा सकती है। किन्तु शरीर के भीतर के अवयवों के आशयों की शुद्धि के लिये षटकर्मों का करना आवश्यक बन जाता है। षट-कर्मों में नेति, धौति, न्योली, बस्ती, कपाल, भाती व त्राकट माने गये हैं। यह सब शरीर के भीतरी देश की शुद्धि के लिये परमावश्यक हैं। इसीलिये योगी लोग प्राणायाम आदि उत्तम क्रियाओं को आरम्भ करने से पहले षट-कर्मों के द्वारा शरीर की बाह्याभ्यांतर की शुद्धि करके प्राणायाम करने का अधिकार प्राप्त कर लेते हैं।

यह सब बाह्य-शुद्धि है। इनके अतिरिक्त आभ्यांतर शौच में मनकी शुद्धि के लिये हमारे शास्त्रों में अनेक प्रकार के उपायों का वर्णन है, उनमें योगांगों का अनुष्ठान करना आवश्यक है—

योगांगानुष्ठानाद् शुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तराविवेक ख्याते:।

अर्थात् विवेक ख्याति पर्यन्त यौगांगानुष्ठान करने से अशुद्धि का नाश होता रहता है और ज्ञान का प्रकाश होता रहता है। योगांगों में जप, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-भक्ति आदि सभी सम्मिलित हैं। भगवान मनु के कथनानुसार-

अद्भिर्गात्राणिशुध्यति, मन: सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति।।

(मनु अ. ५, श्लोक १०९)

अर्थात् मृज्जलादि के द्वारा शरीर की शुद्धि होती है। सत्य के द्वारा मन की शुद्धि, विद्या तप के द्वारा आत्मा और ज्ञान के द्वारा बुद्धि शुद्ध होती है। इन्हीं सब नियमो को समझ करके बाह्याभ्यान्तर को पूर्ण करता हुआ शौच के पूर्ण फल को प्राप्तकर लेता है। अंग-प्रत्यंगों तक में भी उसको घृणा आदि होने लग जाती है तथा प्राणीमात्र के संसर्ग से वह दूर हो जाता है। भगवान पतञ्जलिदेवजी के द्वारा भी इसका समर्थन किया गया है। यथा—

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्ग:।

(योगसूत्र. ०/४०)

अर्थात् शुद्धि की पराकाष्ठा से योगी को अपने अंगों से भी घृणा होने लगती है। ऐसी स्थिति में दूसरों का संग तो हो ही कैसे सकता है? यह बाह्य शुद्धि की पराकाष्ठा है, किन्तु इसके अतिरिक्त ज्यों-ज्यों आभ्यान्तर शौच बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों अंत:करण की शुद्धि मन की पवित्रता और एकाग्रता इन्द्रिय-जय और आत्म-दर्शन की योग्यता बढ़ती चली जाती है।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रयेन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।

(योगसूत्र २/४१)

उपरोक्त दोनों प्रकार के बाह्याभ्यान्तर शौच के नियमों को समझ करके यथा विधि पालन करने वाला साधक शुद्धि के फलस्वरूप आत्म-दर्शन को पा सकता है।

इसके बाद दूसरा नियम सन्तोष है। सन्तोष का अर्थ है मन की पूर्ण तुष्टि। संतोषी वही कहलाता है जो दृष्टानुस्रविक विषयों में पूर्ण वितृष्ण है तथा जिसे इस लोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त तक के भोग विचलित नहीं कर सकते। ऐसी ही पूर्ण सन्तुष्ट कहला सकता है और ऐसा व्यक्ति ही स्थितप्रज्ञ कहलाता है। स्थितप्रज्ञ के लक्षण भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय में इस प्रकार किये हैं—

दु:खेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह:।
वीतरागभयक्रोध: स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।
य: सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

(गीता २/५६-५७)

अर्थात् जिसका मन दु:खों में उद्विग्न नहीं होता और सुखों में आसक्त नहीं होता, जिसमें राग है न भय है और न क्रोध है। जो सर्वत्र स्नेह रहित शुभ या अशुभ कैसी भी स्थिति को पाकर के न खुशी होता है और न दु:खी होता है, उसी की बुद्धि स्थिर है। ऐसा मुनि जिसने इतने ऊँचे सन्तोष को प्राप्त कर लिया है कृतार्थ हो जाता है। उसको कोई भी व्यक्ति या पदार्थ विचलित नहीं कर सकता। भगवान श्री पतञ्जलि जी ने सन्तोष का फल अनुत्तम सुख-लाभ लिखा है। अनुत्तम सुखी वही है उससे बढ़कर कुछ नहीं हो सकता। जिसके विषय में भगवान श्रीकृष्ण जी ने गीता में इस प्रकार वर्णन किया है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्- बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वत:।।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं तत:।
यस्मिन्स्थितो न दु:खेन गुरुणापि विचाल्यते।।

(गीता ६/२१-२२)

अर्थात् वह सुख अतीन्द्रिय व बुद्धि-ग्राही है, जिसमें स्थित होने पर मनुष्य को बड़े से बड़ा दु:ख भी विचलित नहीं कर सकता और जिसको प्राप्त कर प्राणी अपने आपको कृत-कृत्य समझता है और उससे बढ़कर कोई सुख नहीं समझता तथा कृतकृत्य हुआ परम सुख को अनुभव करता हुआ ऐसा प्राणी गुण वित्तृष्ण हो जाता है। एवं अपने आपको कृतार्थ जानकर परम ब्रह्म में लीन हुआ कह उठता है—

मातर्मेदिनी तात मारुत सखे तेज: सुबन्धोजल।
भ्रातर्व्योम निबद्ध एव भवताम्रेष प्राणमाञ्जलि:।
युष्मत्संग वशोपजात सुकृतोद्रेककस्फुर निर्मल।
ज्ञानापास्त समस्त मोह महिमालीये परे ब्रह्मणि।।

अर्थात् हे माता पृथ्वी, तात, वायु, सखे, तेज, हे मित्र जल, हे भाई आकाश मैं आप सबको प्रणाम करता हूँ। क्योंकि आप सबके संग से पुण्य बना, व पुण्य के उदय होने से मोह की महिमा हट गई और अब मैं परमब्रह्म में लीन हो रहा हूँ।

प्रश्न : हे गुरुदेव आपने शौच और संतोष दो नियमों को बहुत ही अच्छी तरह समझाया और उसके साथ-साथ आपने यह भी

बतलाया कि योगी को सन्तोष करने से उत्तमोत्तम सुख की प्राप्ति होती है। योगदर्शन का यह प्रमाण भी है कि सन्तोष करने से योगी को उत्तम सुख की प्राप्ति होती है।

कृपा करके मुझे यह बतलाइये कि उत्तम सुख क्या चीज है?

हे पुत्र देखो! सन्तोष शब्द का अर्थ यह है। 'सम' उपसर्ग पूर्वक 'षष्टु' शब्द से संतोष शब्द बना है।'' अर्थात् सम् ''**षष्टु प्रकारेण तोषः संतोषः**' अर्थात् जिससे अभ्यास करने पर आत्मिक तोष प्राप्त हो वही सन्तोष कहलाता है और मनुष्य को यह सन्तुष्टि उस ही हालत में हो सकती है जबकि मनुष्य उस ही हालत में हो सकती है जबकि मनुष्य अपनी सभी कामनाओं पर पूर्णरूपेण नियन्त्रण प्राप्त कर सके तभी वह पूर्ण संतोषी कहलायेगा। भगवान श्रीकृष्ण का ऐसा आदेश भी है—

आपूर्यमाणमचल प्रतिष्ठं,
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे,
सशांतिमाप्नोति न कामकामी।।
विहाय कामान्यः सर्वान्,
पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः
स शान्तिमधिगच्छति।।

अर्थात् जिस प्रकार से नदी-नाले सब समुद्र में जा करके समाप्त हो जाते हैं इस ही प्रकार से सभी कल्पनायें जिसमें विलीन हो जाती हैं वही मनुष्य संतोष को प्राप्त करता है और जो मनुष्य सभी प्रकार की कल्पनाओं को छोड़ करके निर्मम और निरहङ्कार हो करके विचरता है वही यथार्थ में शान्ति और सन्तोष को प्राप्त कर सकता है। सन्तोष शब्द का अर्थ है— पूर्णरूपेण तुष्टि और वह पूर्णरूपेण तुष्टि मनुष्य को तभी प्राप्त हो सकती है जबकि वह उस स्थिति को प्राप्त हो जावे, जिसे प्राप्त करके और कुछ प्राप्त करना शेष रहता ही नहीं, यही मनुष्य की शाश्वत शान्ति है और यही संतोष-जन्य सर्वोत्तम सुख है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! आपकी परम कृपापूर्वक मैंने 'सन्तोष' शब्द के यथार्थ अर्थ को भली प्रकार से समझ लिया है। आपके चरण-कमलों का अवलम्ब ले करके मैं भी ऐसा ही प्रयत्न करूँगा जिससे कि मेरे मन को शाश्वत शान्ति का सुख प्राप्त हो। अब आप कृपा करके तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान आदि जो शेष नियम हैं, उन पर प्रकाश डालिये, जिससे कि मैं उन नियमों को भी हृदयंगम कर सकूँ? आपके इस पवित्र उपदेश को प्राप्त करके मुझे पूर्ण आशा है कि मैं पवित्र योग-सिद्धांतों को प्राप्त करने का अधिकारी बन ही जाऊँगा। आप कृपा करके मुझे तप के विषय में समझाइये?

उत्तर : हे पुत्र सुनो! भगवान पतञ्जलि देव जी ने—

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रिया योगः।

कह करके क्रिया-योग का वर्णन किया है। इस सूत्र का भाष्य भगवान व्यासदेव जी लिखते हैं—

नातपस्विनों योगः सिद्धयति अनादि कर्मक्लेश-वासनाचित्रा प्रत्युपस्थित विषय जालाचाशुद्धि-नन्तिरेण तपः। संभेदमापद्यते इति तपसाउपादानं, तच्च चित्तप्रसाधनमबोधमानमनेनसेव्यमिति मन्यते।

अर्थात् तप के बिना योग सिद्ध नहीं होता। अनादिकाल से कर्म क्लेश वासना आदि के द्वारा उत्पन्न हुआ विषय-जाल अन्तःकरण की शुद्धि के बिना नहीं कटता। इसीलिये तप आवश्यक है और वह तप जिसमें चित्त अधिक क्लेश को प्राप्त नहीं होता।

योग-शास्त्र के योग-सूत्र २/३२ के भाष्य में-

तपः द्वन्दसहनं द्वन्दश्च जिघत्सापिपासे, शीतोष्णे स्थानासने काष्ठामौना कारमौने च। व्रतानि चैषां यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तपनादीनि।

अर्थात् द्वन्द सहन का नाम तप है। द्वन्द, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी जोड़े का नाम है। इसके अतिरिक्त एक आसन पर बैठकर काष्ठ मौन, आकार मौन व कृच्छ चान्द्रायण आदिक व्रत करना भी उत्तम तप माना गया है। काष्ठमौन वह कहलाता है जिसमें व्रत करके वाला व्यक्ति काष्ठवत् बैठा रहे। किसी प्रकार के इंगितों से भी अपने भाव को प्रगट न करे। आकार मौन वह कहलाता है जिसमें आकार व अपने इंगितों से भीतर की इच्छा को प्रगट करके केवल जिह्वा मात्र पर नियन्त्रण रखा जाता है। काष्ठ मौन व आकार मौन के द्वारा जिह्वा पर पूर्ण नियन्त्रण होता है। किसी प्रकार की अशुभ वाणी मुँह से नहीं निकलती और इसी प्रकार दूसरों के द्वारा प्रयुक्त की गई शुभ व अशुभ वाणी शान्त-भाव से सहन करने की ताकत बढ़ती है। इसके अतिरिक्त कृच्छ चान्द्रायण आदिक व्रत समूह यद्यपि क्लेशों को क्षीण करने के लिए उत्तम है किन्तु उसमें भगवान व्यासदेव जी के शब्दों को याद रखने की आवश्यकता है—

चित्तं प्रसादनमबाधमानमनेना सेव्यमिति।

जिसमें चित्त की प्रसन्नता बनी रहे, कष्टदायी न हों। इसी प्रकार से ये सब व्रतादि करने चाहिये। जिससे वे मन की एकाग्रता में बाधक न हों। जो लोग इस प्रकार का घोर कठोर तप करते हैं जो आत्म-पीड़ा के साथ किया जाता है उसको भगवान श्रीकृष्ण जी ने तामस तप कहा है। इसलिये

उत्तम तप वही है जो श्रद्धापूर्वक बिना कष्ट के आत्म-साक्षात्कार के लिये व क्लेशों को क्षीण करने के लिए किया जाय। गीता में भगवान श्रीकृष्ण जी ने उत्तम प्रकार से शरीर, वाणी व मन के तपों का वर्णन किया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं
शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्य अहिंसा च
शरीरं तप उच्यते।।
अनुद्धेगकरं वाक्यं
सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव
वाङ्मयं तप उच्यते।।
मनः प्रसादः सौम्यत्वं
मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो
मानसमुच्यते।।

(गीता १७/१४/१५-१६)

अर्थात् देव, द्विज, गुरु व बुद्धिमान लोगों की सेवा करना व शौच व नम्रता धारण करना, ब्रह्मचर्य और अहिंसा व्रत का पूर्ण रूप से पालन करना, यह शारीरिक तप कहलाता है। मन की प्रसन्ना, मृदुता, मौन धारण करना आत्म-निग्रह और भावों की शुद्धि यह मानस तप कहलाता है। मनुष्य मात्र के लिये ये तीनों तप उपादेय हैं।

इसके अतिरिक्त मन के राजस, तामस भावों को क्षीण करने के लिए, ज्ञान दीप्ति के लिए कृच्छचान्द्रायण आदिक व्रत भी सामर्थ्य अनुसार करने चाहिये। किन्तु पवनाभ्यास करने वाले साधक के लिए कृच्छचान्द्रायण आदिक व्रत की आवश्यकता नहीं है। उनके लिए प्राणायाम के साथ-साथ ब्रह्मचर्य, अहिंसा सत्य भाषण आदि ही परम तप है। भगवान पतञ्जलि जी ने भी तप का फल इस प्रकार कहा है-

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

(योगसूत्र २/४३)

अर्थात् तप के द्वारा अशुद्धि नाश हो जाने पर योगी को कायिक व ऐन्द्रिय सिद्धि स्वतः ही उपलब्ध हो जाती है। कायिक सिद्धि से अणिमा, महिमा आदि व ऐन्द्रिय सिद्धि से दूर दर्शन, दूर श्रवण आदि प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त शरीर के बलाबल व सामर्थ्य को देखकर किये जाने वाले तप के द्वारा सब कुछ साध्य है। यथा—

यद दुष्करं दुराराध्यं दुर्जयं दुरतिक्रमम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्।।

अर्थात् तप के द्वारा बोई भी ऐसा कार्य नहीं, जो नहीं किया जा सकता। अतः शास्त्र विधि के अनुसार तप बड़ा परम उपादेय है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! आपने तप के द्वारा कायिक और ऐन्द्रिय सिद्धियों की बात लिखी है। क्या ये सिद्धियां तप के द्वारा ही उपलब्ध हो सकती हैं या इन सिद्धियों के प्राप्त करने का कोई और भी सरलतम् उपाय है? क्या प्राणायाम आदि के द्वारा भी ये सिद्धियां उपलब्ध होती हैं?

उत्तर : हे पुत्र! हां प्राणायाम के द्वारा भी उपलब्ध होती हैं और प्राणायाम भी तो एक तप ही है। क्योंकि हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है कि—

दह्यन्तेहि ध्यायमाननां, धातुनाम यथा बलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते, मला प्राणस्य निग्रहात्।।

अर्थात् जिस प्रकार से सोना, चाँदी आदि धातुएँ तपाने से शुद्ध हो जाया करती हैं, इसी प्रकार से प्राणायाम करने से भी इन्द्रियों के मल जल जाते हैं और योग को दूर-श्रवण, दूर-दर्शन आदि की सिद्धियां भी प्राप्त हो जाया करती हैं।

प्रश्न : हे गुरदेव! यह तो ठीक है कि प्राणायाम तप ही है एवं तप के द्वारा उपलब्ध होने वाली सिद्धियाँ प्राणायाम के द्वारा उपलब्ध हो सकती हैं, किन्तु क्या इसके अतिरिक्त भी कोई उपाय है, जिससे कि योगी साधक सिद्धिभाजन हो सके?

उत्तर : हे पुत्र! देखो योग का यह सिद्धांत है कि—

यत्र मनोलीयते तत्र प्राणोलीयते, यत्र प्राणोलीयते तत्र मनोलीयते।

अर्थात् जहां योगी का मन लय हो जाता है वहां योगी का प्राण भी लय हो जाया करता है और जहां प्राण लय हो जाता है, वहां मन भी लय हो जाया करता है। इसलिये सिद्धांत की बात यह रही कि जों सिद्धियां प्राणायाम के द्वारा उपलब्ध हो सकती हैं, वे सिद्धियां मनोलय के द्वारा भी प्राप्त हो सकती हैं।

प्रश्न : हे गुरुदेव! आप कृपा करके मनोलय के साधन बतलाइये जिससे मैं इस मार्ग में सफलता प्राप्त कर सकूँ?

उत्तर : हे पुत्र! मनोलय की साधना का तो तुम्हें बार-बार उपदेश क्रमों में समझा ही दिया गया है कि—

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन का निरोध होता है और आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज ने इसी बात की पुष्टि करते हुए अर्जुन के प्रश्न करने पर यही उत्तर दिया था कि—

असंशयं महाबाहो, मनो दुर्निग्रहं-चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते।।

अर्थात् हे अर्जुन! यह बात बिल्कुल ठीक है कि मन अत्यन्त चञ्चल है किन्तु अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उसका निग्रह किया जा सकता है। इसलिये मनोलय का जो साधन है वह तीव्रतम साधन से अधिक मुख्य है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! क्या इससे भी सरलतम् उपाय मनो-निरोध के लिये हो सकता है?

उत्तर : हां! मनो-निरोध के लिये एक और उपाय है और वह उपाय है कृपालभ्य। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है कि—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष,
आत्मा विवृणुते ननूँ स्वाम्।।

अर्थात् इस आत्म-पद की प्राप्ति बहुत प्रवचन आदि से प्राप्त नहीं होती और न मेधा के द्वारा इस पद की प्राप्ति होती है और इसी प्रकार से जो लोग शास्त्र श्रवण आदि के द्वारा इस परम-पद की कामना करते हैं तो केवल यही जिसका यह स्वयं वरण करता है और जब यह परम पुरुष जिस पुण्यशील आत्मा का स्वयं वरण करता है, उसको इस पदकी प्राप्ति हुआ करती है और जिसको यह स्वीकार कर लेता है उसके शरीर को ही अपना मन्दिर बना लेता है। अर्थात् उसके शरीर में वह परमपुरुष स्वयं रहा करता है। अभ्यास करने वाले साधक की तदाकार वृत्ति हो जाया करती है। यह वही बात है—

सो जाने जिन्ह देउ जनाई।
तुम्हें जानत तुमही है जाई।।

अर्थात् उस परमपुरुष को वही जान सकता है जिसको वह स्वयं जानते हैं और जानने वाला साधक उनको जान करके अपनी आत्मा सत्ता को उस परम सत्ता में विलीन कर देता है अर्थात् वह उस परम पुरुष में स्वयं विलीन हो जाता है और विलीन होने के बाद उस अमर-अभय पद को प्राप्त करके अपने आपको परम सुखी देखता है। स्थिति इस प्रकार की आ जाती है कि—

य लब्ध्वा चापरंलाभं, मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन, गुरुणापि विचाल्यते।।

अर्थात् उस अमर निर्भय अमर पद को प्राप्त कर लेने के बाद साधक अपने आपको परम कृतार्थ मानता है। वह समझता है कि—

प्राप्तं प्राप्नीयं छिन्नः।
श्लिष्ट परमो भव सक्रमः।।

अर्थात् मैंने जो प्राप्त करना था वह प्राप्त कर लिया है। पोरी-दर-पोरी जुड़े हुए संसार-चक्र को मैंने काट दिया है। अब मेरे लिये कुछ भी प्राप्तव्य अवशेष नहीं रहा है। ऐसी भावनायें साधक अपने मन में किया करता है और ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेने के बाद घोर दुःख पड़ने पर भी साधक विचलित नहीं होता और अपने आपको परम संतुष्ट समझता है। तथा सन्तोषमृत सुख को पाकर अपने आपको परम कृत-कृत्य कर डालता है। उसकी कोई भी कामना अवशेष नहीं रहती।

प्रश्न : हे गुरुदेव! आपके इस वक्तव्य के अनुसार यह सन्तोष सुख ही परम सुख हुआ, इससे बढ़कर तो कोई और सुख नहीं।

उत्तर : हां हे पुत्र! ज्ञानेन्द्रियों और मन, बुद्धि के द्वारा अनुभव किया जाने वाला यह सन्तोष सुख ही परम सुख है। किन्तु स्वरूप स्थिति इससे भी आगे की चीज है। श्री पतंजलि योग-दर्शन के व्यास भाष्य में एक प्रकरण आता है और वह यह कि महामुनि आटव्य ने अपने शिष्य जैगीषव्य से पूछा कि हे बेटा अनेक महासर्गों के अन्दर होने वाले तुम अपने सब जन्मों को जानते हो। इन सब जन्मों में तुमने क्या अनुभव किया। महामुनि जैगीषव्य जी ने उत्तर दिया कि हे गुरुदेव दस महासर्गो के अन्दर जितने मेरे जन्म हुए हैं उन सब जन्मों के अन्दर मैंने केवलमात्र दुःख ही दुःख को देखा है। उसके बाद में अपने शिष्य जैगीषव्य से ही महामुनि आटव्य ने फिर दुबारा पूछा- कि हे बेटा क्या तुमने संतोष सुख को भी दुःख पक्ष में ही डाल दिया। इसके उत्तर में महामुनि जैगीषव्य ने अपने गुरुदेव को पुनः उत्तर दिया कि हे गुरुदेव यह तो बिल्कुल ठीक है कि–

संतोषामृत तृप्तानां यत्सुखं शांत चेतसां।
न तद्धन लुब्धानां इतस्ततस्र च धावतां।।

अर्थात् हे गुरुदेव सन्तोषामृत से तृप्त होने वाले शान्त मन वाले लोगों को जो सुख है वह सुख धन लोभियों को इधर, उधर दौड़ने वालों को नहीं हो सकता। किन्तु फिर भी कैवल्यपद की अपेक्षा तो सन्तोष सुखभी निम्न श्रेणी का ही सुख है। जो व्यक्ति परम पद अर्थात् स्वरूप-स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं यथार्थ सुखी तो वे ही होते हैं।

शिष्य— हे गुरुदेव आपके परम अनुग्रह से मैंने सन्तोष सुख को भली प्रकार से समझ लिया है। आपका आशीर्वाद चाहिये अब मैं इन सब बातों को समझ करके अवश्य-अवश्य अपनी स्वरूप-स्थिति की ओर की बढ़ने का प्रयत्न करूँगा जिससे कृत-कृत्यता प्राप्त करके अपने आपको सुखी बना सकूँ।

यौगिक प्रश्नोत्तरी

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

स्वाध्याय का फल व जप के प्रकार

योगाचार्य तपोनिधि जी का पवित्र आश्रम है। प्रात:काल की पवित्र बेला में आश्रम के सभी ब्रह्मचारी अपने-अपने नित्य कर्म में लगे हुए हैं। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ करने वाले ब्रह्मचारी बड़े ही सुमधुर स्वर से साम-गान कर रहे हैं। यज्ञ-भूमि से सारे आश्रम में उज्ज्वलतम् एवं पावनतम् वातावरण चारों ओर बना हुआ है। योगाश्रम के अभ्यासी साधक विभिन्न प्रकार से अपनी-अपनी क्रियाओं में संलग्न हैं। यह देखो ये षट्कर्म करने वालों की श्रेणी है। कोई नेति कर रहा है, कोई धौति कर रहा है, नौली और बस्ती करने वालों का भी बहुत ही समूह है। इधर ये सब आसन क्लासें चल रही हैं, इधर ये सब आसन क्लासें चल रही हैं, इधर सभी ब्रह्मचारी प्राणायाम के अभ्यासी हैं। ये लोग सभी अपने प्राणायाम की साधनाओं में लगे हुए हैं। दूसरी ओर ध्यानाभ्यासियों की क्लासें हैं। यह भी सभी अपने-अपने ध्यान योग का अभ्यास कर रहे हैं। इधर बाहर के अन्य सत्संगियों का आगमन शनै:-शनै: शुरू हो गया है। अभी योगाचार्य तपोनिधि जी की पर्णकुटीर बन्द है। मालूम पड़ता है कि योगाचार्य जी अभी समाधि से नहीं उठे हैं। धीरे-धीरे उनकी कुटिया के समाने भारी भीड़ इकट्ठी हो गई है। आने वाले लोगों ने मन्द ध्वनि सङ्कीर्तन आरम्भ कर दिया। बड़े ही प्रेम में मग्न होकर गा रहे थे—

''योगेश्वर हम कब से आये हैं,
योगेश्वर तेरे द्वारे।
हम कब से आये हैं।''
तेरे दरस की है अभिलाषा,
बैठा आस लगावे।
जीवन ज्योति जगा दी प्रभुजी,
तेरी शरण में आये।
सुना है कितने पापी की तू,
नैया पार लगाये।
मांग रहा हूँ हे योगेश्वर!
दोनों कर फैलाये है।
मैं कब से आया हूँ ....।
तेरे पद की रज को सिर पर,
बारम्बार चढ़ाऊँ।
लोकेश्वर अखिलेश्वर प्रभुजी,
खाली हाथ न जाऊँ।
दिल में जो अरमान भरे हैं,
योगीराज मैं पाऊँ।
सिद्धों के सरताज प्रभुजी,
तेरा ही गुण गाऊँ।
मैं कब से आया हूँ .... ।
परम पिता परमेश्वर मेरी,
नैया पार लगाओ।
तेरी छटा निराली प्रभुजी,
आके दरस दिखाओ।
इस अनाथ को हे सिद्धेश्वर!
अपना दास बनाओ।
दास कृपा भटकत हैं दर-दर,
उर में ज्योति जगाओ।
मैं कब से आया हूँ .... ।
योगीश्वर तेरे द्वारे, हम कब से आये हैं।।

कीर्तन धूमधाम से होता रहा। योगाचार्य जी की पर्णकुटीर से एक धीर गम्भीर आवाज आ रही थी—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽ-यनाय।8

योगाचार्य तपोनिधि जी अपनी समाधि से उठ गये हैं, इसलिये वे अपनी लीनता के भावों को स्वयं अपनी वाणी से कह करके प्रकट कर रहे हैं। योगाचार्य जी कह रहे हैं कि अन्धकार से परे उस आदित्यवर्ण परम पुरुष को मैं जानता हूँ। उसी को जान करके मनुष्य मृत्यु के पासों से छूट जाता है। उसके अवलम्ब के अतिरिक्त कल्याण का और कोई साधन नहीं है।

आचार्य की इस पवित्र ध्वनि को सुन करके सभी को विश्वास हुआ कि योगाचार्य उठ चुके हैं। इसी बीच बाहर की ओर शनैः-शनैः कुटिया का द्वार खुला। श्री योगाचार्य जी अपनी ध्यान-मुद्रा में ही समुदाय के सामने आ गये। आचार्य जी के शुभागमन पर सत्संगी लोगों ने आकाश-तल को जय-ध्वनि से निनादित कर दिया। शनैः-शनैः तपोनिधि श्री योगाचार्य जी ने अपना आसन ग्रहण किया और ईश वन्दना करते हुए कहा—

नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मं वदिष्यामि ऋतुं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु। अवतु माम् अवतु वक्तारम् ओ3म् शान्ति श्शान्तिश्श्यान्तिः।।1

अर्थात् हे परमब्रह्म परमेश्वर! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं। मैं आपको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा। मैं सत्य बोलूँगा, आप मुझ सत्य बोलने वाले की रक्षा करें। इत्यादि शब्दों से योगाचार्य जी ने परमात्मा की स्तुति की और सत्संग में आये सभी सत्संगियों को देख करके अपना कल्याणकारी व्याख्यान प्रारम्भ किया। व्याख्यान से पूर्व उन्होंने श्री भर्तहरि जी का एक श्लोक कहा और उस श्लोक के अर्थ को उपस्थित जनता को समझाया।

आचार्य तपोनिधि जी ने लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा कि हे जिज्ञासु भक्त सुनो! श्री भर्तहरि जी सभी को उपदेश दे रहे हैं—

क्षान्तं न क्षमया गृहोचित,
सुखं त्यक्तं न संतोषतः।
सोढा दुःसहशीतवाततपनाः,
क्लेशान्न तत्पं तपः।।
ध्यातं वित्तमहर्निशं,
नियमित शंभो पदं।
तत्तकर्मकृतं यदेव मुनिभि-
स्तैस्तैः फलैर्वंचित्तम्।।13

क्षमा की दृष्टि से किसी को क्षमा नहीं किया जाता और गृहस्थ के सुख को सन्तोषपूर्वक नहीं छोड़ना और क्लेशपूर्वक दुःसहशीतवात और गर्मी को सहन किया, किन्तु तपस्या नहीं की। हमने प्रतिक्षण पैसे का ध्यान किया, किन्तु प्राणों पर कन्ट्रोल कर भगवान शंकर का ध्यान नहीं किया। सारी जिन्दगी वही कर्म किये, जो-जो लोग मुनि लोग किया करते हैं, किन्तु इन सभी के फलों से वंचित ही रहे। ओह! धिक्कार है हमारे जीवन को—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याता-
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।।

हमने भोग नहीं भोगे, किन्तु भोग भोगते-भोगते हम स्वयं भुगतान में आ गये। हमने तप नहीं किया किन्तु विषयों की आग से हम स्वयं तापित हो गये। समय खतम नहीं हुआ अर्थात् समय नहीं गया किन्तु हम स्वयं चले गये। हम स्वयं जीर्ण-शीर्ण हो गये किन्तु हमारी तृष्णा अभी तक भी जीर्ण नहीं हुई है। इसलिये कल्याण के अभिलाषी सज्जनों समय चलता जा रहा है। तुम सभी लोग अपने जीवन को सार्थक बनाने के लिये स्वाध्याय, व्रत और यज्ञ-हवन आदि के द्वारा अपने मनुष्य शरीर को उज्ज्वल करो। देखो हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है कि–

स्वाध्यायेन व्रतैर्हो- मैस्त्रैविद्येनेज्ययासतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।।

— मनुस्मृति

अर्थात् तीव्रतम् स्वाध्याय, व्रत, होम, यज्ञ और महायज्ञों के द्वारा इस शरीर में स्वतः ही ब्रह्मत्व के गुणों का प्रकाश हो जाया करता है। आदि-आदि उपदेश देकर श्री योगचार्य जी ने अपने व्याख्यान को नियन्त्रित किया और शांत मुद्रा में बैठ गये। श्री आचार्य जी के मौन हो जाने पर एक जिज्ञासु साधक दोनों हाथ बांध कर खड़ा हो गया और उसने प्रश्न किया—

हे गुरुदेव स्वाध्याय शब्द का क्या अर्थ है और उसका क्या फल निकलता है। आपने अपने पिछले सत्संग में यम नियमों पर व्याख्यान देते हुए तप तक के सब नियमों को समझा दिया, किन्तु स्वाध्याय के विषय में आपने किसी भी प्रकार का कोई वर्णन नहीं किया। कृपया आज बताइये—

उत्तर : हे पुत्र सुनो, स्वाध्याय के दो अर्थ हुआ करते हैं—

प्रणवादि पवित्राणां जपः स्वाध्यायः मोक्ष शास्त्राणां अध्ययनं वा स्वाध्याय।

अर्थात् ओंकार आदि जो परमात्मा के पवित्र नाम हैं उनका जप करना स्वाध्याय कहलाता है या मुक्तिदाता शास्त्रों का पाठ करना स्वाध्याय कहलाता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! प्रणवादियों से आपका क्या अभिप्राय है? और प्रणवादियों से किन-किन मन्त्रों का जाप किया जा सकता है और इसके साथ-साथ मुक्तिदाता शास्त्र कौन-कौन से हैं और उनका अध्ययन क्रम कैसे रखना चाहिये?

उत्तर : हे पुत्र सुनो! प्रणवादियों से हमारा अभिप्राय है ब्रह्मा, विष्णु, आदि के या वीतराग पुरुषों के जितने नाम हैं वे सब ही प्रणव के अन्तर्गत हैं। क्योंकि उन सबकी उत्पत्ति प्रणव से ही है। इसलिये ब्रह्मा, विष्णु शिव आदि के जितने मन्त्र हैं

वह सब प्रणव के अन्तर्गत ही माने जाते हैं उनका जप करना प्रणव के समान ही कल्याणकारी है।

प्रश्न : हे गुरुदेव क्या इसमें कोई प्रमाण भी है जिससे मैं समझ सकूँ कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उत्पत्ति प्रणव से हुई है?

उत्तर : हां पुत्र इस प्रकार के बहुत से प्रमाण हैं उपनिषदों में इसकी जगह-जगह चर्चा होती है—

प्रणवादि प्रभवो रुद्रः, प्रणवादि प्रभवो हरिः।
प्रणवादि प्रभवो ब्रह्मा, तस्मात् प्रणवं हि परिपूजयेत।।

अर्थात् प्रणव से भगवान रुद्र की, प्रणव से भगवान विष्णु की और प्रणव से ही भगवान ब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई है। इसके अतिरिक्त और भी ऐसे बहुत से प्रमाण है जिनसे इन सभी का प्राकट्य उसी अखण्ड तेज सर्वव्यापक प्रणव सत्ता से बतलाया गया है। शिव-संहिता आदि में भी इस प्रकार के प्रमाण मिलते हैं। जैसे-

ईशाद्या सकला देवा दृश्यन्ते परमात्मनि।

अर्थात् ईशादिक सकल देवता उस परमात्मा के अन्दर दिखलाई देते हैं। उस परब्रह्म परमात्मा में ही दिखलाई देते हैं। इसलिये प्रणवादि के कहने से जितने भगवान शिव या भगवान विष्णु पर मन्त्र है सभी के सभी प्रणवान्तर्गत हैं।

प्रश्न : हे गुरुदेव प्रणव के जपने का क्या फल निकलता है?

उत्तर : हे पुत्र देखो! प्रणव जप का फल भगवान पतञ्जलिदेव इस प्रकार बतलाते हैं-

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तराया- भावश्च।।21।।

अर्थात् प्रणव के निरन्तर जप करने पर योगी को पूर्णरूपेण आत्म-साक्षात्कार हो जाता है और विघ्न बाधाओं की पूर्णरूपेण निवृत्ति हो जाती है। प्रणव जाप का अभ्यास करने वाले योगी को किसी प्रकार की भी विघ्न बाधायें नहीं सतातीं और जल्दी से जल्दी आत्म साक्षात्कार को प्राप्त हो जाया करता है। देखो पुत्र! इन्हीं सब भावों को श्री व्यासदेव जी अपने शब्दों में बतला रहे हैं- व्यास भाष्य की पंक्तियों को पढ़ने से तुम्हारे मन की भ्रान्तियाँ और भी भली प्रकार से निवृत्त हो जायेंगी। व्यासभाष्य की पंक्तियां इस प्रकार हैं–

ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वर-प्रणिधानान्न भवन्ति स्वरूप दर्शनमप्यस्य भवति, यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्ग-स्तथाऽयमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुषइत्येवम-धिगच्छति।।21।।

अर्थात् योग-दर्शन में जिन ९ प्रकार की अन्तराओं का वर्णन किया गया है वे सब की सब ईश्वर को आत्म-समर्पण करने से एवं प्रणव का जप करने से हट जाया करते हैं और योगी को आत्म-साक्षात्कार भी पूर्णरूप से हो जाया करता है। जैसे परम पुरुष ईश्वर, परम शुद्ध, परम प्रसन्न, सब प्रकार से विघ्न बाधा रहित है, वैसे ही बुद्धि प्रतिसंवेदी योगी अपने आत्मा को उसी प्रकार से जान लेता है। अर्थात् योगी अपने आत्मा को भी शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव एवं प्रत्यक् चेतना रूप से देख लेता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव योगी के रास्ते में नौ अन्तराय कौन-कौन से हैं कृपा करके वे सब भी मुझे समझा दीजिये? ताकि मैं स्वाध्याय शील होकर अन्तराओं से बचने का पूरा प्रयास कर सकूँ?

उत्तर : हे पुत्र! भगवान पतञ्जलिदेव जी ने नौ प्रकार की अन्तरायें इस प्रकार से बतलाई हैं—

व्याधिस्त्यान संशय प्रमादालस्य विरति भ्रान्ति दर्शनालब्धभूमिकत्वान वस्थितत्वानि चित्तविक्षेपा-स्तेऽन्तरायाः।

— योगदर्शन ३०

अर्थात् व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थित्व ये नौ प्रकार के विघ्न कहे गये हैं जो योगी के रास्ते में रुकावट पैदा करते रहते हैं।

प्रश्न : हे गुरुदेव! आपने जो नौ प्रकार के विघ्न बतलाये हैं, कृपा करके इनका अर्थ भी हमें खोलकर समझा दीजिये? जब तक मैं इन शब्दों के अर्थ को नहीं समझ पाऊँगा, तब तक मैं अन्तरायें निवृत्ति का प्रयत्न ही कैसे करूँगा? इसलिये कृपा करके आप मुझे इनका शब्दार्थ समझाइये, ताकि इनके शब्दार्थ को समझ करके इन सबका ख्याल रखूँ और इनकी निवृत्ति के लिए प्रयत्नशील बना रहूँ?

उत्तर : हे पुत्र सुनो! इस सूत्र पर व्यासदेव जी ने अपने भाष्य की पंक्तियां निम्नांकित लिखी हैं, उनको तुम पढ लो और फिर अन्तराओं से बिल्कुल-बिल्कुल निकलने का प्रयत्न करो।

नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेंपाः सहैते चित्तवृत्तिभि-र्भवन्त्येतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः। व्याधिः धातुरस करणवैषभ्यं, स्त्यानम्- अकर्मण्यता चित्तस्य, संशयः-उभयकोटिस्पृग् विज्ञानं स्यादिदमेव नैवं स्यादिति, प्रमादः समाधिसाधनानाम भावनम्, आलस्यमकायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः, अविरतिः चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मागर्द्धः, भ्रान्तिदर्शनम्-विपर्य्ययज्ञानम्, अलब्धभूमिकत्वम्-समाधिभूमेरलाभः, अनवस्थि तत्वं-यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा, समाधिप्रतिलम्भे हि तद्वस्थितं स्याद-इत्येते चित्तविक्षेपा नव योगमताः, योगप्रतिपक्षाः, योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते।।30

अर्थात् ये अन्तरायें चित्त के विक्षेपक हैं, जब तक ये अन्तरायें बने रहते हैं, तब तक साधक यथार्थ सिद्धि में आ जाता है। इनका अर्थ इस प्रकार से है। **व्याधि** = धातु रस की विकृति से व्याधि उत्पन्न होती है। **स्त्यान** = शरीर की अकर्मण्यता अर्थात् जो लोग अल्हड़ आलसियों की तरह से पड़े रहते हैं शरीर में काम करने की योग्यता तो है किन्तु योग्यता होने पर भी अपनी योग्यता का उपयोग नहीं करना चाहते। वह लोग अकर्मण्य कहलाते हैं। वह अपने चित्त व मन को बुद्धि को काम करने में लगाना ही नहीं चाहते, इसी का नाम चित्त की अकर्मण्यता है। यह ही स्त्यान नामक विघ्न माना जाता है। **संशय** = संशय शब्द का अर्थ है— उभय कोटि स्प्रग् विज्ञान अर्थात् मन में दुविधा का बना रहना। कभी सोचता है मैं यह काम करूँ, कभी सोचता है यह काम ठीक नहीं। ऐसा सोचता हुआ वह कुछ भी नहीं कर पाता। इसी का नाम उभय कोटि स्प्रग् ज्ञान है। **प्रमाद** = समाधि साधनानाम भावनम् अर्थात् समाधि देने वाले साधनों का चिन्तन न करना। मन में लापरवाही रखना और सोचते रहना कि अरे! आज नहीं हुआ तो क्या है कल कर लेंगे। आलस्यम्=आलस्यम् का अर्थ है चित्त और शरीर के भारी रहने से। किसी भी काम के करने की प्रवृत्ति न रहना। **भ्रान्ति-दर्शन** = भ्रान्ति-दर्शन विपर्यय ज्ञान को कहते हैं। विपर्यय ज्ञान का अर्थ होता है, मिथ्या ज्ञान! जैसे किसी व्यक्ति को कोई स्तम्भ खड़ा हुआ दिखलाई देता है तो वह समझता है कि यह कोई आदमी खड़ा है। वस्तुत: वह मनुष्य नहीं होता। अपने मन की भ्रान्ति से उसको मनुष्य समझ बैठता है। इसी का नाम भ्रान्ति-दर्शन कहलाता है। और भ्रान्ति-दर्शन के साथ- **अलब्धभूमिकत्त्व** = अर्थात् समाधि स्थिति का प्राप्त न होना। अनवस्थितत्त्व=अर्थात् समाधि स्थिति प्राप्त तो हो जाये किन्तु बीच-बीच में हटती रहे कभी ध्यान लग गया, कभी ध्यान हट गया यही **अनवस्थितत्त्व विघ्न** है।

ये नौ अन्तरायें हैं और सभी के सभी चित्त के विक्षेपक हैं।

प्रश्न : हे गुरुदेव क्या इन नौ अन्तराओं के अतिरिक्त और भी कोई चित्त विक्षेपक हैं। यदि हैं तो कृपा करके वह भी मुझे इन्हीं के साथ समझा दीजिये?

उत्तर : हां पुत्र देखो, इन विक्षेपक अन्तराओं के साथ चार प्रकार के और भी अन्तराय पैदा हुआ करते हैं जो सदा समाधि के रास्ते में विघ्नभूत होते हैं।

प्रश्न : हे गुरुदेव इन अन्तराओं के साथ और भी जो विक्षेप पैदा हुआ करते हैं कृपा करके उनके नाम अर्थ सहित मुझे बतलाइये?

उत्तर : हे पुत्र सुनो—

दु:खदौर्मनस्याङ्गमेजयत्व श्वास प्रश्वासा विक्षेप-सहभुव:।।31।।

(समाधिपाद ३१)

अर्थात् दु:ख, दौर्मनस्य, अंग-मेजयत्व और श्वास और प्रश्वास की गति ये सब विक्षेपसह भुव: कहलाते हैं। इनके अर्थों का स्पष्टीकरण श्री व्यासदेव जी महाराज ने अपने शब्दों में इस प्रकार किया है—

दु:खमाध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकं च, येनाभिहता: प्राणिन स्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद् दु:खम् दौर्मनस्यम्=इच्छाऽभिधान चेतस: क्षोभ:, यदङ्गान्ये-जयति=कम्पयति तद् अङ्कमेजयत्वम्, प्राणी यद्बह्य-वायुमाचामति स श्वास: यत् कोष्ठयं वायुं नि:सारयति स प्रश्वास:, एते विक्षेपसहभुवो-विक्षिप्त चित्तस्यैते भवन्ति, समाहित चित्तस्यैते न भवन्ति।।31।।

दु:ख तीन प्रकार के होते हैं- आध्यात्मिक, आदिभौतिक एवं आदिदैविक। यथार्थ में दु:ख शब्द का अर्थ है कि जिससे पीड़ित हुआ मनुष्य उससे बचने के लिये प्रयत्नशील रहता है वह दु:ख कहलाता है और दौर्मनस्य-इच्छाभिघात का नाम है और अंगमेजयत्व शरीर के कम्पन को कहते हैं और जो मनुष्य अपने भीतर की वायु को बाहर फेंकता है वह श्वास कहलाता है और बाहर से भीतर जो ले जाता है वह प्रश्वास है। इन श्वास-प्रश्वासों का अधिक मात्रा में आने-जाने की योग-मार्ग में विघ्न माना गया है, ये विक्षेप सहरूप कहलाते हैं।

प्रश्न : हे गुरुदेव! आपने दु:ख तीन प्रकार के बतलाये हैं- आध्यात्मिक, आदिदैविक और आदिभौतिक। कृपा कर इनका भी अर्थ मुझे समझाइये।

उत्तर : हे पुत्र देखो आध्यात्मिक दु:ख वह कहलाता है जो किसी व्याधि के कारण मानस दु:ख पैदा हो जाय या मन में काम, क्रोधादि के विकार पैदा हो जायें और आदिभौतिक दु:ख वह कहलाता है, जिसमें भौतिक प्राणी सिंह, व्याघ्र आदि चीते का भय पैदा हो जाय और आदिदैविक दु:ख वह कहलाता है जिसमें ग्रह नक्षत्र आदियों से जो दु:ख पैदा होता है, वह दु:ख आदिदैविक दु:ख कहलाता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! श्वास-प्रश्वास के आने जाने व अंगों के कांपने को भी विक्षेपों के अन्तर्गत माना गया है ऐसा क्यों? हम तो बराबर यह देखते रहा करते हैं कि गुरु-भाई यदि प्राणायाम का अभ्यास करता हैं, तो प्रथम उसके शरीर में पसीना आने लगता है और फिर कम्पन होने लगता है। क्या यह भी विघ्न है?

उत्तर : नहीं! यह विघ्न नहीं है प्रत्युत् योगी के कुम्भक करने पर प्राणों का अवरोध होने से शरीरस्थ कुम्भक से रोका हुआ प्राण जब वह बाहर निकल नहीं पाता तो अपना वेग दिखलाता है, उसी कम्पन के बाद प्राणायाम के अभ्यासी योगी को दादुरी वृत्ति होने लगती है। दादुरी वृत्ति के बाद उस योगी का आसन जमींन से ऊपर उठ जाया करता है, इसलिए वह कंपन विघ्नकर्त्ता नहीं है।

प्रश्न : तो हे गुरुदेव! विघ्न करने वाला कंपन कौनसा है? कृपाकर वह समझाइये।

उत्तर : हे पुत्र! देखो शास्त्रीय सिद्धान्त यह है कि-

यत्र मनोलीयते, तत्र प्राणोलीयते।

यत्र प्राणोलीयते, तत्र मनोलीयते।।

अर्थात् जहां मन लय हो जाता है वहां प्राण भी लय हो जाया करता है और जहां प्राण लय हो जाता है वहां मन लय हो जाया करता है। प्राण और मन का बिल्कुल अभिन्न सम्बन्ध रहता है। इसलिए जब योगी का मन लय होने लगता है, उस समय योगी का प्राण मन के साथ लयता प्राप्त करने के लिए कंपन पैदा करता है। यह कंपन जो है, वही योगी की समाधि में अन्तरायभूत हो जाता है। इस कंपन को अन्तराय माना गया है।

प्रश्न : तो हे गुरुदेव! श्वास, प्रश्वास को जो विक्षेप सहरूप कहा गया है वह कैसे? हम तो बराबर ऐसा देखते हैं कि कितने ही गुरुभाइयों को ध्यानावस्था में भस्त्रिका प्राण चलने लगता है। क्या ये भस्त्रिका प्राणायाम योगी के रास्ते में विक्षेपक हैं?

उत्तर : हां पुत्र! थोड़ी देर के लिये तो यह भस्त्रिका प्राणायाम भी विक्षेप ही पैदा करता है, किन्तु यह कुण्डलिनी शक्ति का उद्बोधक है और बाद में ये प्राणायाम भी स्तम्भित हो करके योगी के आसन-उत्थान का कारण बन जाया करता हैं। इसलिये पहले थोड़ा सा विक्षेपक रहता है, किन्तु बाद में यह ऊँची स्थिति का भी कारण बन जाया करता है।

प्रश्न : तो हे गुरुदेव! इन अन्तराओं को हटाने के लिए हमें क्या करना चाहिए जिससे समाधि की प्राप्ति हो जाय?

उत्तर : हे पुत्र! इसका उत्तर भगवान पतञ्जलिदेव जी ने इस प्रकार बतलाया है—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यास:।।32

अर्थात् उन विघ्नों की निवृत्ति के लिये अपने चित्त की एक तत्त्व के अभ्यास में लगाना चाहिए तभी इन अन्तराओं की निवृत्ति हो सकती है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! वह एक तत्त्व क्या चीज है?

उत्तर : हे पुत्र! एक तत्त्व ईश्वर का ही नाम है, जिसका बोध नाम प्रणव ओंकार है। उसका जप व ध्यान करने से अन्तराओं की निवृत्ति हो सकती है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! हमने तो ऐसा सुना है-

नास्ति तत्त्वं गुरो: परम्।

और आप एक तत्त्व के अभ्यासार्थ ईश्वर को बतला रहे हैं।

उत्तर : हां पुत्र देखो— **''नास्ति तत्त्वं गुरो: परम्'** ये बात बिल्कुल ठीक है। वह प्रणव सत्ता ही सत्गुरु सत्ता है जिसके लिये श्री व्यास देव जी ने इस प्रकार कहा है—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

(समाधिपाद २६)

अर्थात् वह प्रणव सत्ता अव्यक्त, चेतन, निराकार, निरंजन वही सत्ता जो परात्पर सत्ता है जहां पर काल की पहुँच नहीं है वही सत्गुरु तत्त्व है। उसका निरन्तर ध्यान करने से मनुष्य सभी विघ्नों से हट जाया करता है और उसको सभी सकल अर्थ हो जाया करते हैं। इसलिये जिस सत्ता के अन्दर ब्रह्मा, विष्णु शिव आदि सभी का समावेश है। वही परात्पर सत्गुरु तत्त्व क्लेश कर्म विपाक आदि से अपरामृष्ट परम तत्त्व है। उसी का निरन्तर ध्यान करने से मनुष्य सब प्रकार के विघ्न बाधाओं से बच जाया करता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव यह तो आपने प्रणवादियों के जप की बात बतलाई किन्तु इसके अतिरिक्त मोक्ष-शास्त्रों का अध्ययन क्या होता है और उनका अध्ययन किया कैसे जाये?

उत्तर : हे पुत्र देखो, उपनिषद, गीता, रामायण, सहस्र नामों का पाठ करना, ये सब मोक्ष-शास्त्र कहलाते हैं और पाठ का क्रम इस प्रकार रखना चाहिये जैसे कोई व्यक्ति किसी देवता के मन्त्र का जाप करता है वह एक घंटा जप करने के बाद उसी के सहस्र नाम का पाठ कर लेना चाहिए। पाठ के बाद फिर जाप कर लेना चाहिए। जप और पाठ दोनों कर लेने के बाद उसका ध्यान कर लेना चाहिये। इस विधि से ही उस परम तत्त्व का प्रकाश हुआ करता है। बिल्कुल इनसे मिला शास्त्रीय नियम भी है—

स्वाध्यायाद् योगमासीत् योगात्स्वाध्यायमामनेत्।

अर्थात् स्वाध्याय करने के बाद योग-ध्यान करे और योग-ध्यान करने के बाद स्वाध्याय का मनन करे। स्वाध्याय और योग दोनों की ताकत से परमात्मा का प्रकाश हो जाया करता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव पातञ्जलि योग-दर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव ने स्वाध्याय का क्या फल बतलाया है? कृपा करके वह और मुझे बतला दीजिये, जिससे कि मैं स्वाध्याय की महिमा को और भली प्रकार से समझ सकूँ?

उत्तर : हे पुत्र सुनो! भगवान पतञ्जलिदेव स्वाध्याय का फल इस प्रकार बतलाया है-

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोग:।।44।।

अर्थात् देवता, और सिद्ध लोग स्वाध्यायशील लोगों की आंखों के सामने जाते हैं और उनके कामों में उनकी मदद करते हैं। यही स्वाध्याय का अनुपम फल है।

प्रश्न : हे गुरुदेव जप के कितने प्रकार हैं। और किस मन्त्र का जप करना चाहिये? और जप करने में कौन-कौन मददगार हुआ करते हैं? कृपा करके यह बात आप मुझे समझाइये?

उत्तर : हे पुत्र सुनो! साधक को चाहिये कि वह अपने गुरु प्रदत्त मंत्र का ही जप करे। क्योंकि उस गुरु प्रदत्त मंत्र का ही जप करे। क्योंकि उस गुरु प्रदत्त मंत्र में स्वयं गुरुदेव निवास करते हैं। इसलिये साधक के लिये गुरु प्रदत्त मन्त्र ही कल्याणकारी है। वैसे साधक को जप करते रहने पर तीन प्रकार की सहायतायें मिलती रहा करती हैं। सबसे पहले गुरुमन्त्र के जपने से साधक को गुरुदेव की पहली सहायता मिलती है। और दूसरी सहायता देवताओं की होती है कि जिनका वह मन्त्र हुआ करता है। और तीसरी सहायता उन सिद्ध पुरुषों की हुआ करती है जिन्होंने उस मन्त्र को जप करके सिद्धि प्राप्त की है। ये तीनों सहायतायें उस साधक को बराबर मिलती रहती हैं।

प्रश्न : हे गुरुदेव क्या मन्त्र के जपने मात्र से इन सब लोगों को पता चल जाता है कि अमुक व्यक्ति हमारे उस मन्त्र का जाप कर रहा है?

उत्तर : हां पुत्र देखो! अवश्य ही पता चल जाता है क्योंकि ये सिद्ध पुरुष होते हैं इनको दूर दृष्टि, दूर श्रवणादि स्वत: उपलब्ध होती है। ये सिद्धियां पहले से प्राप्त रहती हैं इसलिये इनको ज्ञान हो जाता है कि अमुक व्यक्ति हमारे उस मन्त्र का जाप कर रहा है। इनकी इतनी सामर्थ्य होती है कि जब कोई इनको स्मरण करता है तब इनको तत्काल ज्ञान हो जाता है और वे उन व्यक्तियों की मदद कर दिया करते हैं, जो इनका चिंतन किया करते हैं।

प्रश्न : हे गुरुदेव जप कितनी प्रकार से किया जाता है और उत्तम जप कौन-सा कहलाता है?

उत्तर : हे पुत्र सुनो! हर व्यक्ति पहले किसी भी जप को वाणी से बोलकर किया करता है और धीरे-धीरे जब उस मन्त्र के जप की पराकाष्ठा हो जाती है। वही मन्त्र की फिर बाहर की आवाज कम होती जाती है और जब वह मन्त्र होठों के द्वारा थोड़ा-थोड़ा जपना प्रारम्भ हो जाता है तो उसे उपांशु जप कहते हैं। और उसके बाद वही मन्त्र जप मन-मन में जपना प्रारम्भ हो जाता है, तब वह जप मानस जप कहलाने लगता है। और जब मानस जप पराकाष्ठा को पहुँचने लगता है तो वही मन्त्र बुद्धिगत हो जाता है। जिस समय मन्त्र बुद्धि में प्रवेश करता है तो बुद्धि में प्रविष्ट हुआ वही मन्त्र समाधि का दाता हो जाने लगता है। यही योगियों का परम लक्ष्य समाधि है।

इस प्रकार से निरन्तर अपने इष्टदेव के किसी भी मन्त्र का यदि साधक जप करता है और साथ ही स्तोत्र आदि पाठ करता रहता है और स्तोत्र पाठ आदि करते हुए योगध्यान करता रहता है तो स्वत: ही ईश्वर की आत्म समर्पण हो जाता है। जिसके फलस्वरूप योगी साधक को बिना ही किसी ऊँचे साधक के स्वत: ही समाधि लाभ हो जाता है। इसके अतिरिक्त अभ्यास करने वाले लोग प्रणव को नादध्वनि का श्रवण करते हुए मनुष्य को समाधि लाभ हो जाता है।

स्वाध्याय से योग को प्राप्त होवे और योग से स्वाध्याय का नमन करे। इस प्रकार स्वाध्याय और योग की सम्पत्ति से परमात्मा का प्रकाश हो जाया करता है। ध्यान और स्वाध्याय के विषय में यह युक्ति प्रख्यात् है-

जपश्रान्तः शिवं ध्यायेद् ध्यानश्रन्तः शिवं जपेत्।
जपध-ध्यान-समायुक्तः परं ब्रह्माधिगच्छति।।

अर्थात् जब मनुष्य जप करते-करते थक जाये तो भगवान शिव का ध्यान करने लग जाये और ध्यान करते-करते थक जाये तो दुबारा जप आरंभ कर दे। इस प्रकार जप और ध्यान की शक्ति से परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

यम–नियमों की साधना तथा उनसे लाभ

प्रश्न : पूज्यपाद गुरुदेव! मैंने आपके व्याख्यानों में यह सुना है कि अष्टांग योग का क्रमश: पालन किया जाय तो वह बहुत ही उत्कृष्ट रहता है। और योग के आठ अंगों में से आप बार-बार यह भी समझाया करते हैं कि साधक को यम और नियमों का पालन करना बहुत ही आवश्यक होता है, और यह यह भी कहा करते हैं कि—

यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्।

अर्थात् जो मनुष्य नियमों का तो यथा तथा पालन करता है पर यमों के पालन की और बिल्कुल भी ध्यान नहीं देता तो उसका पतन हो सकता है और जो व्यक्ति यमों के पालन पूर्वक नियमों का भी पालन करता है उसका कभी भी पतन नहीं होता। गुरुदेव! ऐसा क्यों होता है, आप इस विषय को मुझे पुन: समझाने की कृपा करें।

उत्तर : सौम्य! तुम्हारा प्रश्न बिल्कुल ठीक है। हम भी कई दिनों से यह सोच रहे थे, कि तुम्हें अष्टांग योग की विधिपूर्वक शिक्षा दे दें, ताकि तुम पतन से परे हो कर योग के उच्चत्तम उद्‌देश्य को प्राप्त कर सको। अष्टांग योग की साधना में यम और निमयों की साधना ही मनुष्य के उत्थान की आधार भित्ति है। यदि कदाचित् यम नियमों की साधना के बिना भी किसी प्रकार से समाधि उपलब्ध हो भी जाती है तो उस व्यक्ति को पतन का भय रहता ही है। इसलिये योग समाधि प्राप्त करने के पहले साधक को चाहिये कि यम नियमों के साधनों को वह पहले से ही अपने जीवन में गहराई से घटित कर ले।

प्रश्न : गुरुदेव! आप कई बार अपने व्याख्यानों में यह भी बतलाया करते हैं कि सिद्धानुग्रह प्राप्त व्यक्ति को बिना ही किसी प्रयास के समाधि लाभ हो जाया करती है, और इस विषय को भी आपने समझाया है कि—

'तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानं'

अर्थात् किसी प्रकार यदि समाधि प्राप्त हो जाती है तो जीवात्मा अपने स्वरूप में अवस्थिति हो जाया करता है। और वह स्थिति ऐसी होती है कि कि जिसमें गुण और वृत्तियों का कोई सम्बन्ध रहता ही नहीं। स्वरूपस्थिति में जीवात्मा बौद्धेय धर्मों से रहित होकर केवलीभाव से ही अपने स्वरूप में स्थिति रहा करता है। हे गुरुदेव ऐसी स्थिति में गुण वृत्ति सम्बन्ध तो रहता ही नहीं है फिर क्या आवश्यकता है कि मनुष्य यम और नियमों के तथा इसके अतिरिक्त प्राणायाम, प्रत्याहार आदि क्रियाओं के चक्कर में पड़े। इससे अच्छा तो क्या यह नहीं रहेगा कि मन लगाकर समाधिस्थ रहे?

उत्तर : हे पुत्र यह बात तो ठीक है समाधिस्थ योगी के साथ गुण वृत्ति सम्बन्ध तो बिल्कुल नहीं रहता है। और यह भी ठीक है कि अन्तरायां से रहित होकर के योगी निर्द्वन्द किसी जंगल में रहता हुआ यदि निर्विकल्प और निर्विघ्न समाधि को प्राप्त होता है और स्वरूपस्थिति पूर्णता से प्राप्त कर लेता है तो उसका कार्य हो गया। उसको जो प्राप्त करना चाहिये था वह प्राप्त कर चुका है और पोरी दर पोरी जुड़ा हुआ चक्र संसार यह काट चुका है ऐसी हालत में उसका कोई भी कर्त्तव्य अवशेष नहीं रहता और उस पर यह नियम पूर्णरूपेण लागू हो जाता है कि-

विद्यते हृदय ग्रन्थि श्छिद्‌यन्ते सर्वसंशय:।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टे परावरे।।

अर्थात् परावर उस व्यापक सत्ता के देख लेने के बाद योगी की हृदय ग्रन्थि टूट जाती है एवं सब प्रकार के संशयों का नाश हो जाता है, और कर्म बन्धन क्षय हो जाया करता हैं। उसका कुछ भी कर्तव्य अवशेष नहीं रहता। यदि वह योगी चाहे तो परावर दर्शन के बाद सभी प्रकार के कर्म बन्धनों को क्षय करके एवं ब्रह्मरन्ध्रता विभेदन करके अपने आप को ब्रह्मलीन कर सकता है किन्तु यह स्थिति उसकी समाधि अवस्था में ही तो रहेगा समाधि से नीचे आने पर तो वृत्ति सारूप्य होगा ही, और वृत्ति सारूप्य होने पर—

सदृशं चेष्टते स्वस्या: प्रकृर्ते ज्ञानवानपि।

अर्थात् पूर्ण ज्ञानयुक्त हो जाने के बाद भी समाधि से उठने पर जैसी-जैसी जिसकी सहजा प्रकृति रहती है अपने स्वभाव के अनुसार वह वैसी ही चेष्टायें भी किया करता है जैसे दुर्वासा ऋषि का क्रोधी होना प्रख्यात है, दुर्वासा ऋषि समाधि अवस्था में थोड़ा क्रोधी रहा करते थे किन्तु समाधि

से उठने के बाद जब उनको वृत्ति सारूप्य होता था तभी वे वर एवं श्राप आदि दिया करते थे। इस लिये उनकी अपनी प्रकृति के अनुसार वृत्ति सारूप्य ही से यह सब बातें होती रहती थीं। यदि मनुष्य गुरुदेव के नियन्त्रण में रह करके अपने आपको कसौटी पर कस लेता है तो वह अपने आपको कसौटी पर कस लेता है तो वह उत्तम प्रकृति बन जाने के कारण सभी प्रकार के पतन से परे हो जाया करता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! मैंने कई बार आप से यह सुना है कि सहजा प्रकृति नहीं बदला करती और आप बार-बार यह कहा भी करते हैं कि—

'स्वभावो हि दुश्त्यजः पुंशा'

अर्थात् स्वभाव का बदलना बहुत ही कठिन होता है। जब स्वभाव का बदलना बहुत ही कठिन है और सहजा प्रकृति नहीं छोड़ी जा सकती तो ऐसी स्थिति में यम नियमों के पालन से क्या लाभ?

उत्तर : हे पुत्र यह बात तो ठीक है कि सहजा प्रकृति यों ही सरलता से नहीं बदली जा सकती किन्तु बात्रकपनसे ही यदि गुरुदेव के नियन्त्रण में रह करके यम-नियमों की साधना करता है और गुरुदेव के पूर्ण नियन्त्रण में रहता है तो दृश्य जन्म संवेदनीय कर्मों के अनुसार स्वभाव में काफी परिवर्तन आ जाया करता है। गुरुदेव के नियन्त्रण से और यम नियमों की साधना बाकायदा करने से तमो गुण और रजोगुण के स्वभाव वाले व्यक्ति अवश्य बदल जाते हैं। क्योंकि बालकपन का मन कोमल होता है और उस ही समय से यदि गुरुदेव का नियन्त्रण प्राप्त हो जाये और अहिंसा आदि व्रतों का उपदेश दे दिया जाये तो उस बच्चे के मन में अवश्य ही परिवर्तन आ जाया करता है। फिर वह यौगिक सिद्धान्तानुसार पूर्णता प्राप्त कर लेने पर भी वर और श्राप के झमेले में नहीं पड़ता एवं निर्वाण पद को वह सहज में ही प्राप्त कर लिया करता है। इस लिये यम-नियमों की साधना अष्टांग योग की साधना की आधार भित्ति है।

प्रश्न : हे गुरुदेव यदि ऐसी बात है तो आप कृपा करके मुझे यम और नियमों का उपदेश कीजिये जिससे मैं अपने जीवन को सफल कर सकूँ?

उत्तर : हे पुत्र ठीक है यम-नियमों की साधना बहुत ही आवश्यक है और उनमें भी सबसे पहले यमों की साधना का पूर्णरूपेण अभ्यास करना चाहिये।

प्रश्न : हे गुरुदेव आप कृपा करके मुझे यमों की साधना सविस्तार समझाइये जिससे कि मैं उनका अभ्यास कर सकूँ।

अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

-योग-दर्शन

उत्तर : इस सूत्र के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह यह पांच साधनायें यम कहलाती हैं, इनमें यम-नियमों की सब साधनायें की आधारभूत अहिंसा है। इसी सूत्र का अर्थ करते हुये भगवान व्यासदेव अहिंसा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

अहिंसा :—

तत्राहिंसा- सर्वथा सर्वदा सर्व भूताना मनभिद्रोह उत्तरे च यमनियमातनमूला स्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रति पादनाय प्रतिपाद्यन्ते, तदवदातरूप करणायैबो-पादीयन्ते तथा चोक्तम्-सखल्वयं ब्राह्मणो यथा तथा ब्रतानि बहूनि समादित्सते तथा-तथा प्रमाद कृतेभ्यो हिंसा निदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवा वदात-रूपाम् अहिंसा करोति-

अर्थात् अहिंसा के अतिरिक्त शेष यम नियम अहिंसा की पुष्टि के लिये ही है। इस विषय को इस प्रकार समझ लेना चाहिये, उदाहरणार्थ हम सत्य बोलते हैं। सत्य के अर्थ को स्पष्ट करते हुए भगवान व्यासदेव जी ने निम्नलिखित पंक्तियां लिखी हैं :—

सत्यं— यथाऽर्थेवाङगमनसे, यथा दृष्टं यथाऽनुमिते यथा श्रुतं तथा वाङमश्चेति परत्र स्वबोधसङ् क्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वश्चिता भ्रान्ता। प्रति पत्ति बन्ध्या वा मवेदिति एषा सर्व भूतोशतर्थं प्रवृत्ता न भूतोपघात परैव स्यान्न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत तेन पुण्याभासेन पुण्य प्रति रूपकेण कष्टंतम प्राप्नुयात।।

अर्थात् यथार्थ वाणी जैसे देखी सुनी व अनुमान की हुई, दूसरे को अपना अर्थ समझाने के लिये न वंचनों से युक्त, न भ्रांतियुक्त व न अस्पष्टार्थ कहीं हुई, जो प्राणी मात्र के परोपकार के लिये मनसा, वाचा, कर्मणा, सत्य प्रयुक्त होती है, वही वाणी सत्य कहलाता है। इसी के द्वारा प्राणी-मात्र का भला होता है। इसलिए सत्य-वादन अहिंसा की निर्मलता के लिये अन्य सब प्रकार के व्रताचरण अहिंसा धर्म को ही पुरिपुष्ट करते हैं। यह अहिंसा किसी जाति किसी देश और किसी काल व समय से युक्त न हो और सार्वभामिक अहिंसा हो तो महाव्रत कहलाती है। यथा भगवान पतञ्जलिदेव के शब्दों में :—

जाति देश काल समयानवच्छिन्नाः सार्वमौम महाव्रतम्।

– योग सूत्र २/३/१

जाति देश आदि का अभिप्राय जैसे मछली मारने वाले केवल मछली ही मारते हैं। उनकी हिंसा मछली जाति में है। दूसरी सब जगह वह अहिंसक है। देश में जिस प्रकार से आज कल तीर्थ आदिकों में बलिदान देने की पृथा है।

तीर्थ-स्थानों में जो बलि आदि देते हैं वह स्थान विशेष की हिंसा है। इस लिये देश विशेष की हिंसा और इसी प्रकार जो व्यक्ति किसी खास पुण्य काल में हिंसा करते है। जैसे पुण्य विषय किसी खास समय पर आने वाली अष्टमी, चतुर्थदशी आदि में बलि का विधान होता है। वह काल विषय हिंसा, कालगता हिंसा, कहलाती है। इसी प्रकार जो किसी खास विशेष समय के लिये बड़े-बड़े किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिये हिंसा की जाती है वह समय की हिंसा कहलाती है। इन्हीं सब प्रकार की हिंसाओं से निकल करके प्राणी मात्र में सब देश में तब काल में और बड़े महान किसी कार्य के लिए भी जो हिंसक नहीं वो अहिंसा रूप महाव्रत को धारण करने वाला बन जाता है।

हिंसा की हुई, कराई हुई, लोभ से, क्रोध से और मोह से, मृदु मध्य व अधिमात्रादि भेदों से सैकड़ों भेदों की है। पूर्ण अहिंसा व्रती वही कहला सकता है जो लोभ, क्रोध, मोह के वश में होकर के किसी भी प्रकार से हिंसा न करे कराये न अनुमोदन करे। भगवान पतञ्जलि जो लिखते हैं—

वितर्कवाधने प्रतिपक्षभावनम्।

-योग सूत्र २/३३

अर्थात् जब-जब साधक के सामने हिंसा व्रत आये तब-तब उसको प्रतिपल की भावना करनी चाहिये। मनुष्य लोभ, क्रोध, मोह के वश में होकर सोचता है कि मैं अपने शत्रु को की मार दूँगा और झूठ बोलना पड़े तो झूठ भी अवश्य बोलूँगा, इसके धन को चुरा लूँगा। इसकी स्त्री से बलात्कार करूँगा, और उसके स्थान आदि को जबरदस्ती से छीनकर उसका मालिक हो जाऊँगा, इत्यादि भाव जिस समय साधक के मन में प्रबलता धारण करें तो साधक को इसके अतिरिक्त विपरीत भावनाओं को अपने हृदय में स्थान देना चाहिये। उसे सोचना चाहिये कि संसाराग्नि के घोर अंगारों में पिसते हुये मैंने प्राणी मात्र को अभय प्रदान करने वाला योग अपनाया है। अब मैं पुनः इस अग्नि में नहीं पड़ूँगा। इस प्रकार की धारणाओं दृढ़ को करता हुआ मनुष्य कृतकार्यता, मनोमोदिता आदि तीनों प्रकार की हिंसाओं से बचकर के पूर्ण अहिंसा व्रत को प्राप्त करता है। वह प्राणी के प्रति वैर छोड़ देता है और इसके प्रति भी प्राणीमात्र अपना बैर छोड़ देते हैं। भगवान पतञ्जलि देव जो अहिंसा की पूर्ण पराकाष्ठा का फल बतलाते हैं—

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।

-योग सूत्र २/३२

अर्थात् अहिंसा की पराकाष्ठा को पहुँच जाने वाले साधक के प्रति प्राणीमात्र बैर छोड़ देते हैं, इसी कारण से इस अहिंसा के पूर्ण प्रतीक हमारे ऋषि मुनियों के आश्रमों में शेर, चीता और साधारण व अन्य मृगादिकों का समान मैत्री भाव से रहना सुनते हैं।

प्रश्न : हे गुरुदेव! आपने जिस अहिंसा का वर्णन किया है वह अहिंसा तो साधना साध्य है, अर्थात् मनुष्य प्रयत्न करता रहेगा तो मनसा, वाचा, कर्मणा किसी को दुःख न देने वाली भावना की पुष्ट होती रहेगी। ओर भावना होती रहेगी तो शनैः-शनैः वह अहिंसक हो ही जायेगा। किन्तु जिस समय मन में गुणधर्म वर्तमान होगा तो गुणवृत्ति विरोध होने के कारण दूसरे को दबाने व कुचलने वाले भाव जिनमें हिंसा वृत्ति ही प्रधान रहेगी तो ऐसी स्थिति में साधक अहिंसक किस प्रकार बन पायेगा?

उत्तर : हां, पुत्र तुम्हारी यह बात तो बिल्कुल ठीक ही है यह हिंसा साधना साध्यात्मक है ही। इसके अतिरिक्त जो तुम चाह रहे हो कि योगी के मन में हिंसात्मक भावों का बिल्कुल अभाव ही हो जावे तो यह तो तभी हो सकता है जब योगी सम्प्रज्ञात योग की पराकाष्ठा को पहुँच जाये और वह यह देखने लगे कि प्राणीमात्र के अन्दर वह स्वयं ही आभाषित हो रहा है और प्राणीमात्र में जो स्पन्दन क्रिया है वह उसकी अपनी ही है। ऐसी स्थिति में जब कि वह बिल्कुल एकता अर्थात् अभिन्नता देखता है तब वह सारे संसार के प्राणियों को अपने में तथा सारे संसार के प्राणियों में अपने आपको देखता है। इस स्थिति में राग, द्वेष, दुःख, शोक, मोह आदि से दूर होकर सर्वत्र एकता ही एकता का दर्शन करता है।

तत्र कामोहः कः शोकः, एकत्वननु पश्यतः।

निश्चय यही स्थिति पूर्णता की होती है। इसमें पहुँचकर मनुष्य राग द्वेष, आदि से परे हो जाने के कारण किसी से भी विरोध बुद्धि नहीं रखता है और अपने ही आत्मभूत सब को जानकर सब से प्रेम करता है, हिंसा की भावना पूर्णरूपेण नष्ट हो जाया करती है, वस्तुतः यही अहिंसा की पराकाष्ठा कहलाती है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! यह तो बिल्कुल ठीक है ऐसी स्थिति में तो मनुष्य अहिंसक स्वतः ही हो जायेगा किन्तु एक साधारण साधक के अन्दर तो राग, द्वेष आदि के भाव आ ही सकते हैं। चाहे उसका मन कितना ही एकाग्र क्यों न हों, किन्तु यह स्वाभाविक सी वस्तु है कि अपने मन के विपरीत भावों को देखता है तो ईर्ष्या, द्वेष आदि स्वाभाविक बनते ही हैं उसका निराकरण कैसे हो सकेगा?

उत्तर : हे पुत्र! तुम बात तो ठीक कह रहे हो, किन्तु यह बात तो हम तुम्हें पहले समझा चुके हैं कि ऐसी स्थिति में साधक को अपने मन बुद्धि और शरीर पर नियंत्रण रखना चाहिये अन्यथा एक एकाग्र मन वाले साधक द्वारा तो दूसरों का बहुत बड़ा अनिष्ट हो सकता है। इसीलिए तो योगाभ्यासियों

को एकान्त सेवन की आज्ञा दी गई हैं। भगवान श्रीकृष्ण का भी इस प्रकार का आदेश है—

निर्मांनमोह जितसङ्गदोषा-
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढ़ाः पदमव्ययं तत्।।

अर्थात् जो साधक मान-मोह से रहित होकर एवं रागद्वेष आदि के संगदोषों से बचकर के अपनी मानस-कामना पर पूरा अधिकार प्राप्त करके तथा सुख-दुःख संज्ञक द्वन्द्वों से छूट कर ध्यानयोग का अभ्यासय करते हैं वही उस अव्यय पद को प्राप्त किया करते हैं अन्यथा राग द्वेष आदि के द्वारा तो मुनष्य का पतन हो ही जाता है और विशेषतः अध्यात्म प्रधान व्यक्ति को तो सदा सर्वदा शुभसंकल्पवाला ही होना चाहिये। यदि अध्यात्म प्रधान व्यक्ति के मन में किसी के प्रति द्वेष वश कुसंकल्प रहते हैं तो दूसरे तो का अनिष्ट अवश्य ही हो सकता है और यह इतना बड़ा अनिष्ट हो सकता है कि जितना संसार लड़ाई-झगड़े एवं वाद-विवाद आदि में भी न हो पाये। मानस हिंसा इसी से बहुत ही भयानक और अनिष्टकर होती है इससे दो प्रकार की हानि होती हैं। (१) योगी जिसके प्रति अशुभ संकल्प रखेगा उसका अनिष्ट तो होगा ही होगा किन्तु उस योगी का अपना भी अनिष्ट होगा क्योंकि उसकी अपनी संग्रहीत शक्ति का बिना ही किसी विशेष कारण के निष्कासन हो जायेगा जो योगी की एक अनुपम निधि होती है वह चली जाती है। साथ ही दूसरे का अनिष्ट करने की भावना रखने से योगी अपने सिर पर पुण्यों की अपेक्षा पाप बढ़ा लेता है। योग ज्ञान होता तो है सद्गति प्राप्ति के लिये किन्तु इस प्रकार के अनिष्ट मानस भावों में लगने से योगी सद्गति भाजन नहीं हो पाता, प्रत्युत उत्थान की अपेक्षा पतन की ओर चला जाता है। इस लिये साधक को चाहिये कि अपने आप पर पूरा नियंत्रण रखे और राग-द्वेष आदि की अग्नि से अपने आपको जागरूक रह कर बचाये रहे।

प्रश्न : हे गुरुदेव! क्या सचमुच यदि अध्यात्म-प्रधान व्यक्ति किसी के प्रति अनिष्ट भावना रखता है तो उसका अनिष्ट हो ही जाता है? क्या आपने कोई ऐसी घटना देखी है जिसमें किसी का इस प्रकार का अनिष्ट हुआ हो? यदि देखी है तो कृपा करके मुझे बतला दीजिये जिससे कि मेरे मन के संदेहों की निवृत्ति भी साथ-साथ होती चले।

उत्तर : हम तो इस प्रकार की बहुत सी घटनायें जानते हैं जिनमें अध्यात्म प्रधान व्यक्तियों के शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के संकल्पों का इष्ट अनिष्टता में परणित होता रहा है। तुम्हारे कथन को सुनकर हमें एक आंखों देखी घटना याद आ रही है जो बहुत ही विलक्षणता के साथ घटित हुई थी। और यह सम्बन्धित है आनन्दकन्द परम कृपा निधान श्री प्रभुजी योगेश्वर प्रभु रामलाल जी महाराज के चरणों में घटित हुए जीवन से। श्री श्रभुजी के चरण-कमलों में एक ब्रह्मचारी निवास करते थे जो श्री प्रभुजी के बहुत ही कृपापात्र बच्चे थे। वह अमृतसर में किसी स्थान पर अध्ययन करते थे। उनका एक साथी जो उनका एक प्रकार का मित्र भी था, उसके साथ उसका कुछ पारस्पारिक वाद-विवाद हो गया और उस वाद-विवाद के कारण इन दोनों के मन में मानस संघर्ष चलने लगा। श्री ब्रह्मचारी जी के साथी लड़के ने ब्रह्मचारी की अनुपस्थिति में उनकी एक पुस्तकों का ट्रंक पूरा-भरा हुआ चुरा लिया। जिस ट्रंक में सांख्य योग, न्याय, मीमांसा आदि आदि योग-दर्शन थे एवं अन्य वेद-वेदान्त आदि के बड़े-बड़े ग्रन्थ थे। ब्रह्मचारी जी को उनके चुराये जाने पर बहुत बड़ा मानस क्षोभ हुआ और उस लड़के के प्रति बदला लेने की भावना उनके मन में बनी रहने लगी। ब्रह्मचारी जी अच्छे योगाभ्यासी थे। जब भी वे ध्यान में बैठते तब ही वे भगवान शिव के स्वरूप में लीन हो जाया करते थे।

प्रश्न : हे गुरुदेव लीनता किसको कहते हैं और वे ब्रह्मचारी भगवान शिव के स्वरूप में लीन कैसे हो जाते थे?

उत्तर : हे पुत्र! देखो लीनता का अर्थ है कि इष्टदेव के स्वरूप में स्वरूप, मन में मन बुद्धि में बुद्धि, चित्त में चित्त और अहंकार में अहंकार मिला देने से साधक की बुद्धि तदाकार हो जाया करती है।

प्रश्न : हे गुरुदेव तदाकारकारिता तो और भी कठिन शब्द है मुझे तो बिल्कुल खोल के स्पष्ट रूप से समझाइये जिससे मैं भली प्रकार समझ जाऊँ कि तदाकार क्या होता है?

उत्तर : हे पुत्र! देखो तदाकार का अर्थ यह है कि जब साधक अपने मन बुद्धि प्राणों को अपने इष्टदेव के स्वरूप में विलय कर देता है तो उसकी यह अनुभव होने लगता है कि मैं स्वयं शिव ही हूँ। ऐसी अवस्था में उस साधक के मन में जो भी शुभाशुभ संकल्प बनते हैं वे उसके अपने नहीं होते प्रत्युत स्वयं भगवान शिव के होते हैं। ऐसी स्थिति में किसी दूसरे का अनिष्ट हो जाना स्वाभाविक ही हो जाता है।

प्रश्न : हां तो गुरुदेव आप उस ब्रह्मचारी की और उसके मित्र के पारस्परिक वादविवाद की बात कह रहे थे फिर क्या हुआ आगे?

उत्तर : हां पुत्र, उसके बाद वे ब्रह्मचारी जी जब भी ध्यान में बैठते थे और भगवान शिव के स्वरूप में ज्यों ही लय होते थे त्यों ही वह धर्मभानु नाम का लड़का भूतपूर्व मित्र सामने आ

जाता था और उसके सामने आते ही भगवान शिव स्वरूप स्थिति होने के कारण ब्रह्मचारी जी को तीसरा नेत्र खुलने को हो जाता तब ही उनका ध्यान हट जाता था यह सब ध्यान की स्थिति उन्होंने श्री प्रभुजी के चरणाविन्दों में निवेदन की और कहा तो श्री आनन्दकन्द श्री प्रभुजी ने उत्तर दिया कि बेटा तुम आठ रोज बिल्कुल ध्यान में मत बैठो अन्यथा तुम्हारे इस मित्र का अवश्य अनिष्ट हो जायेगा उस ब्रह्मचारी जी ने अपने गुरुदेव आनन्दकन्द प्रभुजी की आज्ञा मानकर के आठ दिन को अभ्यास छोड़ दिया किन्तु मन में उस अपने मित्र लड़के के प्रति अशुभ संकल्प बने ही रहे। और साथ ही आठ दिन ध्यानाभ्यास में न बैठने का मन में प्रति क्षोभ भी बना रहा। वे यह सोचते रहे कि यह लड़का मेरा अच्छा दुश्मन बना कि जिसने कारण मेरा ध्यानाभ्यास भी हटा दिया गया। मेरे बड़े अशुभकर्म रहे जो ऐसे दुष्ट का सम्पर्क मिला। वह मन ही मन कहने लगा। गोस्वामी तुलसीदास जी ने बिल्कुल सत्य कहा है कि—

दुष्ट संग जबि देइ विधाता।

या ते भला नरक का वासा।

इस मित्र ने तो मेरी बहुत दुर्दशा कर दी। मेरा ध्यानाभ्यास छूट गया और मेरे अच्छे अच्छे ग्रन्थों का जिनका संग्रह मैंने बहुत ही कठिनता से किया था वह सब भी चुरा लिया। ब्रह्मचारी जी इसी दुःख से बहुत दुःखी रहते थे। आठ दिन निकल जाने के बाद उन्होंने एक दिन प्रभुजी के चरणारविन्दों में प्रार्थना की कि हे प्रभुजी आठ दिन हो गये, मेरा ध्यानाभ्यास छूट गया है अब क्या आज्ञा है क्या मैं अपने पूर्व ध्यानाभ्यास का आरम्भ करूँ। ब्रह्मचारी जी ने यह बात ऐसे समय में पूछी जब कि श्री प्रभुजी के चरणाविन्द में अधिक भीड़ की उपस्थिति थी। श्री आनन्दकन्द प्रभुजी ने उस भीड़ ही में ही उत्तर दे दिया कि हां बेटा काफी दिन हुए तुम्हारा अभ्यास छूट गया है अब तुम अपने अभ्यास में बैठ जाया करो। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी की आज्ञा प्राप्त करके जब वे ब्रह्मचारी ध्यान में बैठे तभी चिन्तनमात्र से ही भगवान शिव के स्वरूप में लय हो गये और लीनता प्राप्त हो जाने के बाद वही लड़का बड़े गन्दे अभिनय के साथ उनके सामने आ गया जिसको देख करके ब्रह्मचारी के मन में और भी अधिक उद्वेग हो गया। बहुत दिन के बाद ब्रह्मचारी समाधि में बैठ पाये थे इसलिये एकाग्रता भी बहुत अधिक वेग से हुई जिसके परिणाम स्वरूप उन्होंने देखा कि उनके भ्रूमध्य से एक तीसरे नेत्र का उद्गम हुआ और उस नेत्र से चिन्गारी निकलकर उनके उस साथी पर जा पड़ी। और चिन्गारी के पड़ते ही उनको दिखलायी दिया कि वह लड़का बहुत तिलमिला उठा है। उसने अपने कपड़े सब फाड़ डाले हैं और पुस्तकों का जो ट्रंक उसने चुराया था उस ट्रंक से वे सब पुस्तकें निकालकर फाड़ डाली एवं आग लगा ली। उस लड़के न उन पुस्तकों के साथ अपनी अन्य पुस्तकें जो उसके अध्ययन की थीं वह भी जला दीं एवं साथ ही अपने कपड़े और बिस्तर आदि भी जला दिये हैं। यह सारी की सारी ज्यों का त्यों घटना ब्रह्मचारी जी ने ध्यान में देख ली। और श्री प्रभुजी के चरणारविन्दों में जाकर निवेदन किया कि हे प्रभो! आज तो मेरे ध्यान में इस प्रकार की घटना घट गयी, पता नहीं यह क्या कैसे हुआ? श्री प्रभुजी उसकी इस बात को सुनकर बहुत ही नाराज हुये और कहा कि ठीक है तुम लोग इस प्रकार से लोगों का अनिष्ट किया करो और हम तुम्हारे किये हुए पापों को भोगते रहा करेंगे। श्री प्रभुजी ने उस हो समय हम लोगों को आज्ञा दी कि जाओ देखो जाकर के उस लड़के की क्या हालत है। जब हम लोगों ने उस ब्रह्मचारी के मित्र लड़के के स्थान पर जाकर उस की हालत देखी तो वह वस्तुत: पागल हो गया था और उसने अपनी पुस्तकों का वह ट्रंक और घर के सब वस्त्र स्वयं आग लगा कर जला दिये थे। आस-पास के लोगों ने उस को रस्सियों से बांधा हुआ था और उसे पागलखाना ले जा रहे थे। तब हम लोगों ने उसको नासिका से जबरदस्ती दुग्धपान कराया और उसके सिर में मलाई आदि की मालिश कराई व अन्यान्य गौगिक उपचार कराये तब वह ठीक तो हो गया किन्तु क्षति उसे बहुत पहुँच गयी थी।

यह हुआ एक योगी की मानसी हिंसा का परिणाम, यदि एक योगो मन की एकाग्रता के समय में किसी के प्रति अनिष्ट भावना रखता है तो उसकी एकाग्रता की शक्ति से उसका अनिष्ट होना स्वाभाविक ही हो आता है। इसलिये साधक को चाहिये कि वह यत्वाक, यत्काय, और यत्मानसा रहे अर्थात् साधक को अपने मन वाणी एवं काया पर पूरा-पूरा नियंत्रण रखना चाहिये क्योंकि उसका मन एकाग्र है, गोली से भरी हुई बन्दूक के सामन है यदि बन्दूक चली गयी तो दूसरे का घात कर ही डालेगी, इसलिए अध्यात्म-प्रदान योगी को चाहिये कि वह अपने मन, काया वाणी पर पूरा-पूरा नियंत्रण रखे। और किसी का भी अनिष्ट न होने दे। तभी वह शक्ति का केन्द्र एवं सर्व समर्थ बन सकेगा। अन्यथा इन अन्तराओं के कारण जैसे का तैसा रह सकता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव, वह ब्रह्मचारी आठ दिन के बाद अभ्यास में बैठे तब एकाएक ऐसा क्यों हो गया, पहले जब वे अभ्यास करते रहते थे तब तो ऐसा नहीं होता था अब ऐसा क्यों हो गया? कृपाकर यह बात भी मुझे समझा दीजिये ताकि में भी सावधान रह सकूँ?

उत्तर : हे पुत्र सुनो! वह ब्रह्मचारी आठ रोज तक अभ्यास में नहीं बैठा उसकी आत्म शक्ति का प्रवाह इतने दिन तक रुका रहा और मन में उद्वेग बढ़ता रहा। शक्ति का प्रवाह तो मन में चल ही रहा था। इस लिए वह शक्ति मन में वेग के साथ संग्रहीत होती रही, और बड़े ही वेग के साथ उसका उद्वेग हुआ इसलिये वह उस लड़के का अनिष्ट का कारण बन गयी। यह बात इस प्रकार की हुई जैसे कोई कृषक चलते प्रवाह वाली पानी की नाली को मिट्टी का बांध लगाकर रोक देता है उस नाली में पानी का जब बहुत अधिक संग्रह हो जाता है तो इकट्ठे हुऐ जल का वेग उस बांध को तोड़ डालता है और जल बहुत ही तीव्र वेग के साथ आगे की ओर निकल जाता है। इसी प्रकार उस ब्रह्मचारी के मन शक्ति का प्रवाह तो प्रवाहित था ही आठ दिन उसका संग्रह और बढ़ता रहा इस कारण यह वही भरी हुई बन्दूक वाली बात जैसी बन गयी। इसलिये साधक को चाहिये कि वह अपने मन व वाणी, पर पूरा-पूरा नियन्त्रण करपाने का प्रयास करता रहे।

शिष्य :— हे गुरुदेव! आपने मुझ पर बहुत अधिक अनुग्रह किया अहिंसा के सिद्धान्तों को मुझे भली प्रकार से समझा दिया। अब मैं अपने अभ्यास काल में तो बिल्कुल ही सावधान रहूँगा— ऐसा मैं व्रत आपकी उपस्थिति में ले रहा हूँ।

यौगिक प्रश्नोत्तरी

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

आश्रम का शुद्ध वातावरण था। प्रात:काल ब्रह्म मुहूर्त में इधर-उधर से सत्संगी लोग आकर अपने अभ्यास में लगे हुये थे। योग शिक्षक साधक समुदाय अपनी-अपनी कक्षाओं में योग शिक्षा दे रहे थे। ध्यानाभ्यासी लोग अपने मन को ध्यानाभ्यास में लगाकर लीनता प्राप्त कर रहे थे। इस प्रकार के वातावरण में थोड़ी ही देर बाद श्री आनन्दकन्द प्रभु जी की आरती का समय आया। सभी साधक समुदाय गद्-गद् कण्ठ होकर आरती का उच्चारण करने लगा। आकाश तल पर ध्वनि निनादित हो उठो—

''चरणारविन्दम् गोविन्द नमामि
गुरुदेव शरणम् गुरुदेव नमामि''

ज्योंहि श्री प्रभुजी की आरती जय ध्वनि के साथ सम्पन्न हुई। साधक समुदाय सभी यथा स्थान अपने आसन पर बैठ गये। कुछ जिज्ञासु साधकों के मन में तीव्रतम् जिज्ञासा उठी हुयी थी। वे लोग अपनी शंका निवृत्ति के लिये कुछ प्रश्न पूछना चाहते थे।

''आकारी रेंगतेगर्त्या
चेष्टया भाषणेन च
नेत वक्त्र विकारैश्च
जायते अन्त गतं मन:।''

उक्त सिद्धान्तानुसार श्री योगाचार्य जी ने साधकों के मनोभावों को समझ लिया और वे बड़ी गम्भीर मुद्रा से कहने लगे— ''भाई तुम्हारे मनों के अन्दर कुछ जिज्ञासा दिखलाई दे रही है यदि तुम कुछ पूछना चाहते हो तो पूछो। तुम्हारे मनोभिलिषित भावों को शास्त्रीय सिद्धान्तानुसार समझाने का प्रयत्न करेंगे।'' श्री योगाचार्य जी के ऐसा आदेश देने के बाद तुरन्त एक जिज्ञासु साधक ने प्रश्न किया—

''हे प्रभो आप कृपा करके यह बतला दीजिये कि योग किसको कहते हैं? ताकि आप के उत्तर को समझकर हम सही रूप से योगानुगामी बन जायें।

उत्तर : ''हे पुत्र सुनो चित्त वृति निरोध को योग कहते हैं। शास्त्रीय परिभाषानुसार **'चित्तवृत्तिनां नितरांरोधेद् योग:'** अर्थात् चित्त वृत्तियों का समूलोन्मूलन ही योग कहलाता है।'

प्रश्न : हे गुरुदेव! जब चित्त वृत्तियों का समूलोन्मूलन हो जायेगा तब साधक की क्या स्थिति होगी? और चित्त वृत्तियों का आत्मा से क्या सम्बन्ध है? यह बात भी खोल कर स्पष्टीकरण के साथ समझा दीजिये—

उत्तर : ''हे पुत्र सुनो! आत्मा एक शुद्ध निर्मल ज्योति है जिसमें कभी कोई विकार नहीं। गीता में श्रीकृष्ण ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि—

'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम्-
क्लेद्यो शोष्य एव च
नित्य: सर्वगत: स्थाणुर-
चलोऽयं सनातन:'

अर्थात् आत्मा बिल्कुल अच्छेध्य, अभेध्य अचल तथा अविकारी है। केवल मात्र बौद्धिक ज्ञान द्वारा ही यह सुखी दु:खी दिखलाई देता है वस्तुत: स्वयं तो यह बिल्कुल अविकारी है।

प्रश्न : '' हे गुरुदेव! कृपा करके यह बात समझाइये कि बुद्धि और आत्म का क्या सम्बन्ध है?

उत्तर : हे पुत्र! इस बात को तुम इस प्रकार से समझ लो— आत्मा एक विकार रहित निर्मल ज्योति है और बुद्धि जड़ है। आत्मा का तेज जड़ बुद्धि पर पड़ा तो वह चेतन हो उठी। चेतन हो उठने पर जड़ बुद्धि ने अपना प्रभाव आत्मा पर डाला अर्थात् बुद्धि ने अपना स्वरूप आत्मा को दिखलाया, उसका प्रभाव पड़ जाने से आत्मा अपने आप को सुखी और दु:खी अनुभव करने लगा। इसीलिये आजकल की परिभाषा में आत्मा को बुद्धिबोधात्मा कहा जाता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! बुद्धिबोधात्मा का क्या अर्थ है? इसका तो स्पष्ट अर्थ यही हुआ कि आत्मा पर बुद्धि का प्रभाव पड़ गया तब तो सीधे शब्दों में आत्मा विकारी बन गया?

उत्तर : हे पुत्र! ऐसी बात नहीं है विकारी तो नहीं बना किन्तु विकारी जैसा भासित होने लगा। इस बात को तुम इस प्रकार से समझो जैसे बिजली की रोशनी हरे बल्ब के अन्दर हरी, पीले के अन्दर पीली, लाल के अन्दर लाल तथा काले के अन्दर काली दिखलाई देती है। इसी प्रकार आत्मा

का निर्मल प्रकाश भी त्रिगुणात्मिका जड़ बुद्धि के अन्दर भी जैसा उसका स्वरूप है वैसा ही भासित होने लग गया। इसी कारण से संसार में जन्म लेने वाले व्यक्तियों को सुख दु:ख की अनुभूति होती रहती है। यही जन्म और मरण का कारण है। इसी कारण भगवान पञ्जलि देव ने **'योगश्चित्त वृत्ति निरोध:'** कह करके चित्त वृत्तियों के नितरां निरोध को योग बतलाया है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! जब चित्त वृत्तियों का समूलोन्मूलन निरोध हो जायेगा तब चित्त वृत्तियें तो रहेंगी ही नहीं? तब आत्मा की क्या स्थिति होगी, आत्मा कैसे स्वरूप में रहेगा? अब तो आत्मा बुद्धि बोधात्मा है इसलिये सुख दु:ख का अनुभव करता रहता है। जब चित्त-वृत्तियें बिल्कुल होंगी ही नहीं उस हालत में आत्मा सुख दु:ख का उपभोक्ता रहेगा नहीं तो इसका क्या स्वरूप कहलायेगा? कृपा करके यह बात स्पष्टीकरण कहलायेगा? कृपा करके यह बात स्पष्टीकरण के साथ आप मुझे समझा दीजिए।

उत्तर : हे पुत्र! तुम्हारा यह प्रश्न बिल्कुल ठीक एवं शास्त्र सम्मत है और इस का उत्तर स्वयं भगवान पतञ्जलि देव जी ने ही योग दर्शन के तीसरे सूत्र में बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में दे दिया है वह इस प्रकार से है—

'तदा द्रुष्ट: स्वरूपेऽवस्थानम्'

अर्थात् तब द्रष्टा जीवात्मा अपने शुद्ध स्वरूप के अन्दर प्रतिष्ठित हो जाया करता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! स्वरूप प्रतिष्ठा कैसी होती है? कृपा करके यह बात और मुझे समझा दीजिये। क्या स्वरूप प्रतिष्ठा हो जाने के बाद आत्मा को सुख दु:ख आदि का कोई अनुभव नहीं होता?

उत्तर : हाँ पुत्र! स्वरूप स्थिति का नाम निरोध समाधि है। उसी को योग कहा गया है। उपनिषद् कार इसके विषय में खोलकर स्पष्ट लिखते हैं कि—

''समाधि समतावस्था जीवात्म परमात्मन: समाधिर्वै योग:''

अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था को ही योग कहा गया है और वही निरोध समाधि कहलाती है। निरोध समाधि में पहुँच जाने पर आत्मा बिल्कुल शुद्ध स्थिति में आ जाया करता है, वहाँ तक मन और बुद्धि की कोई पहुँच नहीं रहती निरोध समाधि की स्थिति को अनुभवी सन्तों ने इस प्रकार कहा है—

'मन बुद्धि से परे फोई
बिरला जाने सन्त'

और इसके साथ-साथ 'तदा द्रुष्ट: स्वरूपे अवस्थान' इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए श्री व्यास देव महाराज ने भी अपने शब्दों में पूर्ण रूपेण व्यक्त कर दिया है—

'स्वरूप प्रतिष्ठा तदानीं
चित्त शक्तिर्यथा कैवल्य,
व्युत्थान चित्ते तु सति
तथापि भवन्ति न तथा।'

अर्थात् स्वरूप प्रतिष्ठा का अर्थ है जैसी चेतन शक्ति मोक्ष में हुआ करती है। यद्यपि इस संसार में जन्म और मरण के दु:खों का अनुभव करता हुआ भी स्वरूप प्रतिष्ठा के रूप में तो बिल्कुल विकार रहित शुद्ध बुद्ध मुक्त है ही किन्तु ऐसा होने पर भी क्योंकि यहां पर यह बुद्धि बोधात्मा है इसलिये स्वरूपात्मा नहीं है। स्वरूप प्रतिष्ठा तो यह तभी कहलायेगी जब इसका बौद्धेय बोध बिल्कुल समाप्त हो जायेगा और आत्मा का जब अपने शुद्ध स्वरूप में रह जायेगा।

प्रश्न : हे गुरुदेव! इसका तो अर्थ यह हुआ कि निर्बीज अर्थात् निरोध समाधि ही समाधि है। इसके अतिरिक्त मैं अपने गुरु भाई और बहिनों के समुदाय में यह देखता हूँ कि लोग विभिन्न प्रकार की अपनी ध्यान स्थिति को सुनाते और बतलाते हैं। ऐसी हालत में देखने और सुनने का जो विषय है। वह तौ बुद्धि का ही ज्ञान हुआ। अत: अच्छे अच्छे ध्यानी साधक को भी जो ध्यानानुभूतियें होती रहती हैं वे सबका योग नहीं हैं?

उत्तर : हे पुत्र! तुम बात तो ठीक कहते हो। तुम्हारा प्रश्न बिल्कुल ठीक है किन्तु **''योगश्चित्त वृत्ति निरोध:''** इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुये भगवान व्यास देव जी ने एक संकेत दिया है जो निम्न प्रकार है—

सर्व शब्दा ग्रहणात् तं प्रज्ञातोऽपि योग इत्याऽ-ऽख्यायते, चित्तं हि प्रख्याप्रवृतिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम् प्रख्यारूपं हि चित्त सत्त्वं रजस्तमोभ्यां सं सृष्ट मैश्वर्य्य विषय प्रियं भरुति,

तदेव तमसांऽनुविद्धमाधर्मा ज्ञाना वैराग्या नैश्व-र्य्योपगं भवति, तदेव प्रक्षीण मोहाव रणं सर्वत: प्रद्योतभान मनु विद्धम रजो मात्रया धर्मज्ञान वैराग्यैश्वयर्योपगं भवति, तदेव रजो लेशमलापेतं स्वरूप प्रतिष्ठं सत्व पुरुषान्यता ख्याति मात्र धर्ममेवध्यानोपगं भवति, तत्परं प्रसंख्याना मित्या चक्षते ध्पायिन: चित्तशक्तिर्परिणामिन्य प्रतिसंक्रमा दर्शित विषया शुद्धा चानन्ता च सत्त्व गुणात्मिका चेयमतो विपरीता विवेक ख्यातिरिति: अतस्तत्याँ विरक्त चितं तामपि ख्यातिं निरूणाद्धि तदवस्थं चित्तं

संस्कारो पगं भवति स निर्बीजः समाधिः न तत्र किंचित सम्प्रज्ञायत इत्यसम्प्रज्ञातः द्विविधः स योगश्चित्त वृत्ति निरोध इति।

अर्थात् क्योंकि **'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः'** इस सूत्र में **'रोगः सर्व चित्त वृत्ति निरोधः'** ऐसा नहीं कहा गया है इसलिये सम्प्रज्ञात को भी योग ही कहा गया है क्योंकि प्रख्या प्रवृत्ति शील होने से चित्त त्रिगुणात्मक है। एक नियम की बात चलती है और वह यह कि- हमारे चित्त में जिस समय जो गुण प्रधान होता है उसके साथ दो अन्य गुण उसके अधीन काम करने वाले उसके सहचारी रहते हैं। जिस समय चित्त सतोगुण प्रधान तथा रजोगुण एवं तमोगुण उसके सहचारी रहते हैं तब वह चित्त ऐश्शर्य को चाहने वाला होता है और उसके बाद उस ही चित्त में जब तमोगुण की प्रधानता आ जाती है तब वह चित्त अधर्म अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य की ओर झुका रहता है और जब वह चित्त प्रक्षीण मोहावरण हो जाता है केवल मात्र बहुत थोड़ा सा रजोमात्रा से अनविद्ध रहता है तब वह चित्त धर्म, ज्ञान तथा वैराग्य को चाहने वाला होता है और वही चित्त जब रजोगुण की मात्रा से बिल्कुल छूट जाया करता है तो स्वरूप प्रतिष्ठित धर्ममेध परमज्ञान कहते हैं। वैसे नियमानुसार चित्त शक्ति अर्थात् जीवात्मा बिल्कुल अपरिणामनीय है। इसके ऊपर किसी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता शुद्ध और अनन्त है किन्तु बुद्धि का प्रभाव पड़ जाने से दर्शित विषया कहलाती है और जो यह विवेक ख्याति है वह भी सतोत्वगुणात्मिका होने के कारण हेया है। इसलिये उसमें भी विरक्त हुआ साधक गुणात्मिका होने के नाते से उसको भी छोड़ देता है। जब चित्त उस ख्याति को भी छोड़ देता है। जब चित्त उस ख्याति को भी छोड़ देता है तब उस चित्त में मैं हूँ इस प्रकार की वृत्ति शेष रह जाती है। यह वृत्ति भी समाप्त हो जाने पर साधक निर्बीज समाधि तक पहुँच जाता है। इस समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं इस लिए सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दो प्रकार के योग का वर्णन किया है और जहां से भगवान पञ्जलि ने अथ योगानुशासनम् कहकर योग दर्शन का आरम्भ किया है, इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुये भगवान व्यास देव ने ये पंक्तियां लिखी है इसमें चित्त किन-किन अवस्थाओं में रहता है यह समझाया है जो वह इस प्रकार है—

''योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यं योगः समाधिः सच सार्व भौमश्चित्तस्य धर्मः क्षिप्तं मूढं, विक्षिप्तं, एकाग्रम्, निरुद्धम्, इति चित्त भूमयः तत्र विक्षिप्ते चेतसि सदभूतमर्थ प्रद्योत यति, क्षिणोति च क्लेशानकर्म बन्धनानि श्लथयति, निरोधभिमुखमं करोति स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते सच वितर्कानुगतो, विचारानुगत आनन्दानुगतोऽ-स्नितानुगत इत्यु परिष्टात्प्रवेदिष्यामः सर्व वृत्ति निरोधे त्यसम्प्रज्ञातः समाधिः।

अर्थात् योगानुशासन शब्द का अर्थ शास्त्र वेश करने के अधिकार को कहा गया है। सम्प्रज्ञति समाधि कह करके योग शब्द की अभिव्यक्ति की है। वह समाधि सार्वभौम चित्त का है, क्षिप्त मूढ, विक्षिप्त एकाग्र और निरुद्ध चित्त की भूमिकायें कहलाती है और वहां विक्षिप्त चित्त में, क्योंकि विक्षेप प्रधान और समाधि गौण है, इसलिये विक्षे क्षोपर्जनी समाधि को योग पक्ष में नहीं माना जाता है और जो समाधि चित्त की एकाग्रावस्था प्राप्त होती है जिसमें पहुँचकर साधक वस्तु तत्व की यथार्थता को जान लेता है और क्लेश बन्धन क्षय हो जाते है- कर्म कलाप कमजोर पड़ जाता है और चित्त को निरोध की ओर ले जाती है, वह समाधि सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। सम्प्रज्ञात योग की चार श्रेणी होती हैं।

१. विचारनुगम २. वितर्कानुगम ३. आनंदानुगम और ४. अस्मितानुगम। ये चारों श्रेणी सम्प्रज्ञात समाधि की हैं इनमें चित्त वृत्तियें काम करती रहती हैं और निर्बीज समाधि में जाकर चित्त का समूलोन्मूलन हो जाता है।

हे गुरुदेव! आपने सम्प्रज्ञात योग की चार श्रेणियां बतलाई हैं वे तो मैं बाद में समझ लूँगा किन्तु पहले मुझे सार्वभौम चित्त किन-किन भूमिकाओं में किस किस प्रकार रहता है, यह बात पूरी तरह स्पष्टीकरण के साथ समझा दीजिये— ताकि मैं भली प्रकार समझ जाऊँ कि चित्त अपनी-अपनी भूमिकाओं में किस प्रकार रहा करता है और बाद में निरोध तथा निर्बीज स्थिति में चित्त की क्या स्थिति होती है?

उत्तर : हे पुत्र ! इस बात को तुम इस प्रकार से समझ लो। पहले भी तुम्हें समझाया था कि प्राख्या प्रवृत्ति और स्थिति शील होने से चित्त त्रिगुणात्मक है। देखो जहाँ पर जिस गुण की प्रधानता हो जाती है वहां दो अन्य गुण उस प्रमुख चित्त का अनुगमन करते हैं। जैसे भगवान व्यास देव ने सारे संसार के प्राणियों को उपरोक्त पाँच भूमिकाओं में बांट दिया है। उनमें से मूढावस्था के प्राणी वे कहलाते हैं जिनमें तमोगुण की प्रधानता होती है और रजोगुण व सतोगुण गौण रूप से रहा करते हैं। ऐसे प्राणी अधर्म, अज्ञान अवैराग्य एवं अनैश्वर्य को चाहने वाले गधे, घोड़े तथा खच्चर आदि प्राणियों की तरह मूढ़पन के प्राणी कहलाते हैं। उसके बाद दूसरे प्राणी वे हैं जिनमें रजोगुण प्रधान हो जाता है और तमो तथा रजोगुण गौण रूप से कार्य करते हैं। ऐसे प्राणी परलोक वृत्ति को नहीं समझते। राम, कृष्ण, विष्णु शिवादि को नहीं मानते उन लोगों का सिद्धान्त होता है—

यावद्जीवेत् सुखं जिवेत् ऋण कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मी भूतस्य देहस्य पुनर्रागमन कुतः

अर्थात् मनुष्य संसार में जिन्दा रहे तब तक ऐश और आराम से रहे। कर्जा लेकर घी को पिये क्योंकि अन्त में शरीर जल कर भस्म हो जायेगा इसका पुनर्आगमन होगा ही नहीं। ऐसे प्राणी रजोगुण प्रधानक्षिप्तावस्था के प्राणी कहलाते हैं, तीसरे प्राणी वे हैं जो विक्षिप्तावस्था के प्राणी कहलाते हैं इन लोगों में सतोगुण प्रधान तथा रजोगुण व तमोगुण गौण हो जाते हैं। ये परलौकिक विचारधारा मानते हैं श्रीराम, कृष्ण, विष्णु तथा शिवादि के अन्दर पूरी-पूरी श्रद्धा रखते हैं किन्तु रास्ता न मिलने के कारण विवश रहते हैं ये ही लोग अपने मुख से बार-बार संकीर्तन किया करते हैं कि—

राम नाम रटते रहो जब लगि घट में प्रान
कबहुं तो दीन दयाल के भनक पड़ेगी कान।

इन लोगों में यह विश्वास अवश्य होता है कि ईश्वर का साक्षात्कार हो सकता है। भगवान राम, कृष्ण, विष्णु शिवादि के दर्शन हो सकते हैं किन्तु कोई उपाय न मिलने पर असमर्थ रहते हैं। इससे आगे चौथे प्राणी-एकाग्र अवस्था के कहलाया करते हैं। इनमें सतोगुण चमक उठता है। मोहावरण क्षीण हो जाता है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियें अन्तर्मुखता धारण कर लेती हैं और उस सतोगुण के दिव्य प्रकाश के अन्दर श्रीराम, श्रीकृष्ण, भगवान सदाशिव तथा अन्य देवी-देवताओं के दर्शन भी होने लगते हैं धीरे-धीरे ये साधक ऋतमभरा प्रज्ञा तक पहुँच जाते हैं और इनकी अनुभूतियें सत्य होने लग जाती हैं। इससे आगे पांचवी अवस्था निरोधावस्था है जिसमें जाकर के चित्त केवल अस्मि प्रत्यय रूप से ही शेष रहता है वह भी निर्बीज समाधि में जाकर बिल्कुल निरुद्ध हो जाता है इस निर्बीज समाधि में ही स्वरूप में चित्तवृत्ति निरोध को प्राप्त करके **''योगश्चित्त वृत्ति निरोधः''** इस सूत्र का यथार्थ ज्ञाता बन जाता है। इस ही निर्बीज समाधि को प्राप्त करके योगी अपने आपको समतावस्था में देखता है और प्राप्तव्य को पाकर कृत्य कृत्य हो जाता है।

हे गुरुदेव! आपके उपदेशाभृत को सुनकर मैंने योग शब्द के अर्थ को भली प्रकार समझ लिया है। आशा है आपकी पूर्ण कृपा से मैं अवश्य ही योगानुगामी बन जाऊँगा। सत्संग का समय समाप्त हो गया। सभी साधकों को इस प्रश्नोंत्तरी से बहुत लाभ हुआ है एवं सभी अपनी वृत्तियों को योगानुगामी बनाकर अपनी परम कुटियों को चले गये।

आशा है अन्य सभी जिज्ञासु पाठक गण भी इस प्रश्नोंत्तरी को पढ़कर अपने मनों को योगानुगामी बनायेंगे एवं जीवन साफल्यगामी बनेंगे।

यौगिक प्रश्नोत्तरी

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

आश्रम का शुद्ध वातावरण है। योग अभ्यासी लोग उठ चुके हैं। ब्रह्मचारी लोग अपनी अपनी हठ योग की साधनाओं में नियम पूर्वक लग चुके हैं। आश्रम में ठहरा हुआ गृहस्थ समुदाय भी अपने अपने नित्य कृत्यों से निपट करके श्री गुरुदेव जी की आज्ञानुसार अपने अपने आसन, बन्ध मुद्रायें आदि का अभ्यास करके जैसा जिसको आदेश था अपने अपने ध्यानाभ्यास में बैठ गये। थोड़ी देर बाद सभी नैतिक क्रियाओं से निवृत्त हो गये। श्री आनन्दकन्द प्रभुजी की आरती, पूजन, एवं गीता पाठ आदि के बाद नैत्यिक सत्संग का कार्य प्रारम्भ हो गया। उन में से एक जिज्ञासु ने आकर प्रश्न किया —

प्रश्न : हे गुरुदेव! कल के सत्संग में अपने सर्व चित्त वृत्ति निरोध को योग बतलाया था उसके उसके साथ ही यह भी कहा था कि सूत्र में भगवान पतञ्जलि देव ने ''सर्व'' शब्द को ग्रहण नहीं किया इसलिये सम्प्रज्ञात समाधि जिसमें बराबर अनुभूतियें रहा करती है वह भी योग ही है। सो आप कृपा करके मुझे सम्प्रज्ञात योग ही समझाइये। वह कितने प्रकार का होता है और साधक निरोध तक कैसे पहुँच पाता है?

''हे पुत्र! सुनो भगवान पन्तजलि देव ने सम्प्रज्ञात समाधि का इस प्रकार वर्णन किया है—

वितर्क विचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः।

अर्थात् वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मितानुगत होने से सम्प्रज्ञात योग के चार भेद हैं जिनका वर्णन व्यास देव जी महाराज अपने भाष्य में निम्नांकित पंक्तियों में करते हैं—

वितर्कः = चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः, सूक्ष्मो = विचारः, आनन्दः = ह्लादः, एकात्मिका संविद = अस्मिता, तत्र प्रथमश्चतुष्टानुगतः समाधि स वितर्कः, द्वितीयों वितर्क विकलः स विचारः, तृतीयो विचार विकलः सानन्दः चतुर्थस्तद्विकलोस्मिता मात्र इति, सर्व एते सालम्बनाः समाधयः।

इनमें से वितर्कनुगत समाधि उसको कहते हैं जिसमें चित्त को ठहराने के लिये स्थूल विषयों का अवलम्ब लिया जाता है। जैसे अग्नि, जल, वायु, आकाशादि स्थूल महाभूत हैं और विचारानुगत समाधि में स्थूल महाभूतों से होने वाली सूक्ष्म आनन्दानुगत समाधि में योगी की आह्लादात्मिक स्थिति और उसके बाद अस्मितानुगत योग में केवल मात्र अस्मि प्रत्यय का आभास होता है। सम्प्रज्ञात समाधि अन्य योग के भेदों की स्थिति में योगी को स्वतः ही सिद्ध होती चली जाया करती है। बात तो केवल मात्र एक है मनुष्य को अपने अभ्यास से पीछे नहीं हटना चाहिए इसके बाद **'योगिनों योग एवं उपाध्यायः'** अर्थात् योगी का योग ही गुरु बन जाया करता है वैसे वह सर्व शक्तिमान आदि गुरु परमात्मा घट-घट वासी अन्तर्यामी एवं प्राणी मात्र का उर प्रेरक है। साधक अपने अभ्यास के द्वारा जिस भूमिका को पार कर जाता है उसके बाद उस परम गुरुर परमात्मा की कृपा से उससे आगे की दूसरी भूमिका उसके सामने प्रकट हो जाया करती है। पूर्व भूमिका के दृश्य फिर उसके सामने नहीं आते। उदाहरणार्थ एक योगी जब वितर्कानुगत समाधि का अभ्यास करता है और निरन्तर अभ्यास के बल से उस भूमिका में लब्ध स्थितिक जो जाता है तो उस के अभ्यास में स्वतः ही अगली भूमिका के दृश्य आने लगते हैं और पीछे वाली भूमिका के दृश्य आने बन्द हो जाया करते हैं। इसी कारण श्री व्यासदेव जी महाराज ने अपनी पंक्तियों में इसका बिल्कुल स्पष्टीकरण कर दिया है। जैसे वितर्क विकलः सविचारः और उसके बाद विचार विकलः सानन्दः अर्थात् जिस समय योगी वितर्कानुगत समाधि में जय प्राप्त कर लेगा तो उसका अभ्यास समाप्त हो जाने के बाद विचारानुगम योग में वितर्कानुगम के दृश्य नहीं आयेंगे और जब द्वितीय श्रेणी विचारानुगम को अपने अभ्यास के बल से जीत लेगा तो स्वतः ही आनन्दानुगत समाधि का आरम्भ हो जायेगा और उसमें दुबारा विचारनुगत के दृश्य नहीं आयेंगे। ठीक इसी प्रकार आनन्दानुगत और अस्मितानुगत की बात भी है ज्यों-ज्यों योगी उच्चत्तर भूमिकाओं में जय प्राप्त कर लेता है त्यों-त्यों उसे निम्न श्रेणी की भूमिकाओं के अभ्यास की आवश्यकता नहीं रहती और उस परम गुरु परमात्मा की कृपा से उत्तरोत्तर आगे ही बढ़ता चला जाता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! आप कृपा करके यह बतलाइये कि साधक को यह योग किस प्रकार से प्राप्त होता है? क्या योगाभ्यासी

की अपनी शक्ति पर यह सब साधना आधारित है या कोई और भी उपाय है? मैंने कई जगह पर ऐसा देखा है कि कितने ही साधकों को तो जन्म लेने मात्र से ही योग ज्ञान हो जाता है और कितने ही ऐसे है कि काफी प्रयत्न करने पर भी उन को स्थिति उपलब्ध नहीं हो पाती।

उतर : ''हां पुत्र, ऐसा हुआ ही करता हैं। जो जन्म जन्मान्तर के अभ्यासी हैं चाहे वे अनन्त काल तक स्वर्ग में वास करके आये हों उनको जन्म ग्रहण करते ही अपने जन्म-जन्मान्तर के अभ्यास की स्मृति कायम हो जाती है और बिना किसी के प्रयास ही वे लब्ध भूमिक हो जाया करते हैं। भगवान पतंजलि देव योग दर्शनं में स्वयं ही इस बात का स्पष्टी करण अपने शब्दों में करते हैं—

भव प्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्

अर्थात् विदेह एवं प्रकृति लीन योगियों को जन्म लेने मात्र से ही योग-ज्ञान की प्रतीति हो जाया करती है।

इस सूत्र के अनुसार संसार में जन्म लेने वाले प्राणियों को इस योग की प्रतीति दो ही प्रकार से होती है उनमें पहले प्राणी वे हैं जो अपने जन्म-जन्मान्तर के अभ्यास से सम्प्रज्ञात: योग की वितर्क और विचारानुगत समाधि में पूर्णत: प्रविष्ट हो चुके हैं और बाद में अभी निर्बीज समाधि तक नहीं पहुँच पाये थे अभी उन्हें विवेक ख्याति नहीं हुई थी इसी अवस्था मैं ही उनका देहपात हो गया। योगी दो प्रकार के होते हैं- १. विदेह २. प्रकृति लीन

(१) विदेह :— वे कहलाते हैं जो वितर्क समाधि द्वारा स्थूल महाभूतों का और उनके विशेषों का पूर्ण साक्षात्कार कर चुके हैं। इस लिये वे शरीर की असलियत को समझ करके देहाभिमान से शून्य हो गये हैं और इतनी साधना के बाद उनका शरीर छूट गया और वे संप्रज्ञात योग की आगे की सीढ़ियों तक नहीं पहुँच सके, अत: वे लोग विदेह कहलाते हैं और यह देव कोटि में माने जाते हैं।

(२) प्रकृति लीन :— वे योगी होते है जो स्थूल महाभूतों और उनके गुणों का पूर्ण साक्षात्कार करते हुये निर्विचार समापत्ति में पञ्च तन्मात्र, अहंकार और महत्तत्व और प्रकृति के इन सूक्ष्म तत्वों का साक्षात्कार करते हुए इन्हीं में लीन रहे हैं आगे की भूमिकाओं को तय नहीं कर पाये तथा अचानक देहपात हो गया इसलिये ये प्रकृति लीन कहलाते हैं। ये प्राणी भी देव कोटि में गिने जाते हैं इसलिये भगवान व्यासदेव जी ने इन लोगों के लिये—

विदेहानां भव प्रत्यय: तेहि स्वसंस्कार मात्रोपगेन चित्तेन पदभिवानु भवन्त: स्वसंस्कार विपाकं तथा जातीय कमीत वाहयन्ति तथा प्रकृतिलया: साधिकारे चेतसि प्रकृति लीने कैवल्य पदमिवानुभवन्ति यावन्न पुनरावर्त्ततेऽधिकार वशाच्चित्तमिति कैवल्य पदमिवा-नुभवन्ति।

कह कर भगवान व्यासदेव जी ने इन्हें मुक्ति पद में तो नहीं माना किन्तु मोक्ष जैसी स्थिति को ये लोग प्रकृति लीन होते हुए भी मोक्ष पद जैसा समझते हैं क्योंकि अभी इनका ग्रंथि बेच नहीं हुआ अर्थात् विवेक ख्याति को प्राप्त नहीं हुए। इसलिये इनका चित्त साधिकार है और अधिकार वश इन लोगों का संसार में जन्म होता है क्योंकि पिछले जन्म-जन्मान्तरों में इनकी योग में ऊँची प्रगति रही थी इसलिये बहुत लम्बे समय तक ये विदेह प्रकृति लीन रहते हुए भी अपने आपको मुक्त आत्माओं की तरह अनुभव करते रहे थे। बुद्धि आल्हाद, आमोद प्रमोद आदि विशेष भावों में लीन हुये अपने आपको आनन्द मग्न मोक्ष रूप देखते रहे थे किन्तु विवेक ज्ञान के हुये बिना इनका चित्त साधिकार है इसलिये इन्हें संसार में दुबारा जन्म लेना पड़ता है। और जन्म से ही इनको पूर्व जन्म जन्मान्तरों में जो अभ्यास किया था उसकी प्रतीति होने लगती है और फिर उस स्थिति को पा करके जल्दी हीं अपने पूर्व लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। इन लोगों की कुछ हानि नहीं हुई क्योंकि ये विदेहावस्था व प्रकृतिलीनावस्था में परमानन्द में रहे तथा जन्म लेने पर अनेक जन्मों में किया गया अध्यास सामने आया और पुन: उसी योग समाधि में प्रवृत हो गये। इसी प्रकार प्रश्न का गीता के छठवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण जी से अर्जुन ने प्रश्न किया—

अयति: श्रद्धयापेतो योगाच्चलित मानस:। अप्राप्य योग संसिद्धि कांगतिं कृष्ण गच्छति। कच्चिन्नोभय विभ्रष्टाश्छिन्ना भ्रमिव नश्यति। अप्रतिष्ठो महाबाहो बिमूढ़ो ब्राह्मण: पथि, एतन्मे संशय कृष्ण-छेत्तर्महईस्य शेषत:। त्वदन्य: संशयस्यास्य छेत्तानुह्यु प्रपद्यते।

अर्थात् अर्जुन भगवान श्रीकृष्ण जी से प्रश्न करता है कि हे श्रीकृष्ण जो व्यक्ति श्रद्धा से युक्त हैं और अपने आप को काबू में नहीं रख सका है और योगाभ्यास करते-करते जिसका मन विचलित हो गया है वह योग सिद्धि को न पा करके किस गति को प्राप्त होता है? कदाचित उभय भ्रष्ट हो करके फटे हुये बादल की तरह नष्ट भ्रष्ट तो नहीं हो जाता क्योंकि अभी उसने अपने स्वरूप में स्थिति नहीं पाई और ब्रह्म ज्ञान को नहीं पा सका। मेरे इस संशय को नाश करने वाला आपके अतिरिक्त हे श्रीकृष्ण दूसरा कोई नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान श्रीकृष्ण जी ने कहा—

पार्थ नेवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते। न हि कल्याण कृत्कश्चिछूद दुर्गितं तात गच्छति। प्राप्य

पुण्य कृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीं समा:। शुचीनां श्री मतां गेहे योगभ्रष्टोऽभि जायते। अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्। एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यद्दीदृश्म्। तत्र तम बुद्धि सयोगं लभते पोर्वदेहिकम्। यतते च ततो भूय: संसिद्धौ कुरुनन्दन। पूर्वाभ्यासेन तेनेव ह्रियते ह्यवशोऽपि स:। जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्माति वर्तते।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्ध किल्विष:। अनेक जन्म सं सिद्धस्ततो- याति परां गतिम्।।
भगवान श्रीकृष्ण जी उत्तर देते हैं कि हे अर्जुन! ऐसे पुण्यात्माओं का इस लोक व परलोक में कहीं भी पतन नहीं होता। कोई भी शुभ कर्म करने वाला दुर्गति को प्राप्त नहीं हो सकता। वे लोग पवित्र पुण्यात्माओं के लोकों को प्राप्त होकर बहुत समय तक वहां रह कर पुन: पवित्र श्री मानों के घर में ही जन्म ग्रहण करते हैं या बुद्धिमान योगियों के घरों में ही जन्म होता है। इस मनुष्य लोक में इस प्रकार जन्म लेना भी अत्यन्त दुर्लभ है और ऐसा जन्म हो जाने के बाद उन योगियों को अपना **पोर्वदैहिक** बुद्धि संयोग प्राप्त होता है। और उस बुद्धि संयोग को पाकर के वे लोग पुन: सिद्धि के लिये प्रयत्न करते हैं, क्योंकि पूर्व जन्म में उन्होंने इस प्रकार का अभ्यास किया था इसी कारण से उनको इस मार्ग में लगना पड़ता है। योग मार्ग का जिज्ञासु भी कर्म काण्ड के विषय से ऊँचा उठ जाता है और प्रयत्न पूर्वक यत्न करता हुआ अपने सब पापों को धो करके अनेक जन्मों के प्रयत्न से परम गति को पा लेता है। इस प्रकार भगवान पतञ्जलि की आज्ञानुसार जो लोग सम्प्रज्ञात समाधि में ही किसी प्रकार विफल हो जाते हैं और निर्बीज समाधि को प्राप्त नहीं हो पाते है उनको जन्म से ही इस योग की प्रतीति होती है और अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं।

यौगिक प्रश्नोत्तरी

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

आश्रम का शुद्ध वातावरण है। योगाभ्यासी लोग उठ चुके हैं। ब्रह्मचारी लोग अपनी हठयोग की साधनाओं में नियम पूर्वक लग चुके हैं। आश्रम में ठहरा हुआ गृहस्थ समुदाय भी अपने अपने नित्य कृत्यों से निपट करके श्री गुरुदेव जी की आज्ञानुसार अपने अपने आसन बन्ध मुद्रायें आदि अभ्यास करके जैसा जिसको आदेश था अपने अपने ध्यानाभ्यास में बैठ गया। थोड़ी देर बाद सभी नैत्यिक क्रियाओं से निवृत्ति हो गये। श्री आनन्दकन्द प्रभुजी की आरती, पूजन एवं गीता पाठ आदि के बाद नैत्यिक सत्संग का कार्य प्रारम्भ हो गया। उमनें से एक जिज्ञासु के आकर प्रश्न किया—

प्रश्न : हे गुरुदेव! काल के सत्संग में अपने सर्व चित्त वृत्ति निरोध को योग बतलाया था और उसके साथ ही यह भी कहा था कि सूत्र में भगवान पतंजलि देव ने ''सर्व'' शब्द को ग्रहण नहीं किया इसलिये सम्प्रज्ञात समाधि जिसमें बराबर अनुभूतियें रहा करती हैं वह भी योग ही है। सो आप कृपा करके मुझे सम्प्रज्ञात योग ही समझाइये। यह कितने प्रकार का होता है और साधक निरोध तक कैसे पहुँच पाता है?

उतर : हे पुत्र! सुनो भगवान पतंजलि देव ने सम्प्रज्ञात समाधि का इस प्रकार वर्णन किया है—

वितर्क विचारानन्दस्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञात:।

अर्थात् वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मितानुगत होने से सम्प्रज्ञात योग के चार भेद हैं जिनका वर्णन व्यास देव जी महाराज अपने भाष्य में निम्नांकित पंक्तियों में करते हैं—

वितर्क = चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोग:, सूक्ष्मो = विचार:, आनन्द: हलाद:, एकात्मिका संविद = अस्मिता, तत्र प्रथमश्चतुष्टथा नुगत: समाधि स वितर्क:, द्वितीयो वितर्कक विकल: स विचार: तृतीयो विचार विकल: सानन्द: चतुर्थस्तद्विकलोस्मिता मात्र इति, सर्व एवं सालम्बना: समाधय:।

इनमें से वितर्कानुगत समाधि उसको कहते हैं। जिसमें चित्त को ठहराने के लिए स्थूल विषयों का अवलम्ब लिया जाता है। जैसे अग्नि जल वायु, आकाशदि स्थूल महाभूत हैं और विचारानुगत समाधि में स्थूल महाभूतों से होने वाली सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों से होने वाला साक्षात्कार और आनन्दानुगत समाधि में योग की आह्लादात्मिक स्थिति और उसके बाद अस्मितानुगत योग में केवल मात्र अस्मि प्रत्यय का आभास होता है। सम्प्रज्ञात समाधि जन्य और योग के भेदों की स्थिति में योगी को स्वत: ही सिद्ध होती चली जाया करती हैं। बात तो केवल मात्र एक है मनुष्य को अपने अभ्यास से पीछे नहीं हटना चाहिए उसके बाद 'योगिना योग एव उपाध्याय:' अर्थात् योगी का योग ही गुरु बन जाया करता है वैसे वह सर्व शक्तिमान आदि गुरु परमात्मा घट घट वासी अन्तर्यामी एवं प्राणी मात्र का उर प्रेरक है। साधक अपने अभ्यास के द्वारा जिस भूमिका को पार कर जाता है उसके बाद उस परम गुरु परमात्मा की कृपा से उससे आगे की दूसरी भूमिका उसके सामने प्रकट हो जाया करती है। पूर्व भूमिका के दृश्य फिर उसके सामने नहीं आते। उदाहरणार्थ एक योगी जब वितर्कानुगत समाधि का अभ्यास करता है और निरन्तर अभ्यास के बल से उस भूमिका में लब्धस्थिति हो जाता है तो उसके अभ्यास में स्वत: ही अगली भूमिका के दृश्य आने लगते हैं और पीछे वाली भूमिका के दृश्य आने लगते हैं और पीछे वाली भूमिका के दृश्य आने बन्द हो जाया करते हैं। इसी कारण श्री व्यासदेव जी महाराज ने अपनी पंक्तियों में इसका बिल्कुल स्पष्टीकरण कर दिया है। जैसे वितर्क विकल: सविचार: और उसके बाद विचार विकल: सानन्द: अर्थात् जिस समय योगी वितर्कानुगत समाधि में जय प्राप्त कर लेगा तो उसका अभ्यास समाप्त हो जाने के बाद विचारानुगम योग में वितर्कानुगम के दृश्य नहीं आयेगे और जब द्वितीय श्रेणी विचारानुगम को अपने अभ्यास के बल से जीत लेगा तो स्वत: ही आनन्दनुगत समाधि का आरम्भ हो जायेगा और उसमें दुबारा विचारानुगत दृश्य नहीं आयेंगे। ठीक इसी प्रकार आनन्दानुगत और अस्मितानुगत की बात भी है ज्यों-ज्यों योगी उच्चत्तर भूमिकाओं में जगह प्राप्त कर लेता है त्यों-त्यों उसे निम्न श्रेणी की भूमिकाओं के अभ्यास की आवश्यकता नहीं रहती और उस परम गुरु परमात्मा की कृपा से उत्तरोत्तर आगे बढ़ता चला जाता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव आप कृपा करके यह बतलाइये कि साधक को यह रोग किस प्रकार से प्राप्त होता है? क्या योगाभ्यासी की अपनी शक्ति पर यह सब साधना आधारित है या कोई और भी उपाय है? मैंने कई जगह पर देखा है कि कितने ही साधकों को तो जन्म लेने मात्र से ही योग ज्ञान हो जाता है और कितने ही ऐसे हैं कि काफी प्रयत्न करने पर भी उनको स्थिति उपलब्ध नहीं हो पाती।

उत्तर : हां पुत्र ऐसा हुआ ही करता है। जो जन्म जन्मान्तर के अभ्यासी हैं चाहे वे अनन्त काल तक स्वर्ग में वास करके आये हों उनको जन्म ग्रहण करते ही अपने जन्म जन्मान्तर के अभ्यास की स्मृति कायम हो जाती है और बिना किसी के प्रयास ही वे लब्ध भूमिक हो जाया करते हैं। भगवान पतंजलिदेव योग दर्शन में स्वयं ही इस बात का स्पष्टीकरण अपने शब्दों में करते हैं—

भव प्रत्ययो विदेह प्रकृति लयानाम्।

अर्थात्– विदेह एवं प्रकृति लीन योगियों को जन्म लेने मात्र से ही योग ज्ञान की प्रतीति हो जाया करती है।

इस सूत्र के अनुसार संसार में जन्म लेने वाले प्राणियों को इस योग की प्रतीति दो ही प्रकार से होती है उनमें पहले प्राणी वे हैं जौ अपने जन्म जन्मान्तर के अभ्यास से सम्प्रज्ञात: योग की विर्तक और वित्तारानुगत समाधि में पूर्णत: प्रविष्ट हो चुके हैं और बाद में अभी निर्बीज समाधि तक नहीं पहुँच पाये थे अभी उन्हें विवेक ख्याति नहीं हुई थी इसी अवस्था में ही उनका देहपात हो गया। ऐसे योगी दो प्रकार के होते हैं– (१) विदेह (२) प्रकृति लीन

१. विदेह —

वे कहलाते हैं जो वितर्क समाधि द्वारा स्थूल महाभूतों का और उनके विशेषों का पूर्ण साक्षात्कार कर चुके हैं इसलिये वे शरीर की असलियत को समझकर के देहाभिमान से शून्य हो गये हैं और इतनी साधना के बाद उनका शरीर छूट गया और वे संप्रज्ञात योग की आगे की सीढ़ियों तक नहीं पहुँच सके, अत: वे लोग विदेह कहलाते हैं और देव कोटि में माने जाते हैं।

२. प्रकृति लीन —

वे योगी होते हैं जो स्थूल महाभूतों और उनके गुणों का पूर्ण साक्षात्कार करते हुये निविचार समापत्ति में पँच तन्मात्र, अहंकार और महत्तत्त्व और प्रकृति का साक्षात्कार कर चुके हैं तथा अभी वो प्रकृति के इन सूक्ष्म तत्वों का साक्षात्कार करते हुए इन्हीं में लीन रहे हैं आगे की भूमिकाओं को तय नहीं कर पाये तथा अचानक देहपात हो गया इसलिये यह प्रकृति लीन कहलाते हैं। ये प्राणी भी देव कोटि में गिने जाते हैं इसलिये भगवान व्यास देव जी ने इन लोगों के लिए—

विदेहनां देवानां भव प्रत्यय: तेहि स्वसंस्कार मत्रोपगेन चित्तेन कैवल्य यदमिवानु भवन्त: स्वसंस्कार विपाकं तथा जातीय कमीत बाहयन्ति तथा प्रकृतिलया: साधिकारे चेतसि प्रकृति लीने कैवल्य पदममिवानु भवन्ति यावन्न पुनरावर्त्ततेऽधिकर वशाच्चित्तर्मिति कैवल्य पदममिवानुभन्ति।

यह कहकर भगवान व्यास देव जी ने इन्हें मुक्ति पद में तो नहीं माना किन्तु मोक्ष जैसी स्थिति को ये लोग प्रकृति लीन होते हुये भी मोक्ष पद जैसा समझते हैं क्योंकि अभी इनका ग्रन्थि भेद नहीं हुआ अर्थात् विवेक ख्याति को प्राप्त नहीं हुये। इसलिये इनका चित्त साधिकार है और अधिकार वश इन लोगों का संसार में जन्म होता है क्योंकि पिछले जन जन्मान्तरों में इनकी योग में ऊँची प्रगति रही थी इसलिये बहुत लम्बे समय तक ये विदेह प्रकृति लीन रहते हुये भी अपने आप को मुक्त आत्माओं की तरह अनुभव करते रहे थे। बुद्धि के अल्हाद, आमोद प्रमोद आदि विशेष भावों में लीन हुये अपने आपको आनन्द मग्न मोक्ष रूप देखते रहे थे किन्तु विवेकज्ञान के हुये बिना इनका चित्त साधिकार है इस लिये इन्हें संसार में दुबारा जन्म लेना पड़ता है। जन्म से ही पूर्व जन्म जन्मान्तारों में जो अभ्यास किया था उसकी प्रतीति होने लगती है और फिर उस स्थिति की पा करके जल्दी ही अपने पूर्ण लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। इन लोगों की कुछ हानि हुई क्योंकि ये विदेहावस्था व प्रकृतिलीनावस्था में परमानन्द में रहे तथा जन्म लेने पर अनेक जन्मों में किया गया अभ्यास सामने आया और पुन: उसी योग समाधि में प्रवृत हो गये। इसी प्रकार का प्रश्न गीता के छठवें अध्याय में भगवान श्री कृष्ण जी से अर्जुन ने किया—

अयति: श्रद्धयोपेतो, योगाच्चलितमानसा:।
अप्राप्य योगसंसिद्धि, का गति कृष्ण गच्छति।
कच्चिन्नोभयविभ्रष्ट– श्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो, विमूढो ब्राह्मण: पथि।
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तु मर्हस्यशेषत:।
त्वदन्य: संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।

अर्थात् अर्जुन भगवान श्री कृष्ण जी से प्रश्न करता है कि हे श्रीकृष्ण जी व्यक्ति श्रद्धा से युक्त है और अपने आप को काबू में नहीं रख सका है और योगाभ्यास करते करते जिस का मन विचलित हो गया है वह योग सिद्धि को न पा

करके किस गति को प्राप्त होता है? कदाचित् उभय भ्रष्ट हो करके फटे हुये बादल की तरह नष्ट भ्रष्ट तो नहीं हो जाता क्योंकि अभी उसने अपने स्वरूप में स्थिति नहीं पाई और ब्रह्म ज्ञान को नहीं पा सका। मेरे इस संशय को नाश करने वाला आपके अतिरिक्त हे श्रीकृष्ण दूसरा कोई नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुये भगवान श्रीकृष्ण जी ने कहा—

पार्थ नेवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते। न हि कल्याण कृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति। प्राप्य पुण्य कृतां लोकानुषित्वा शाम्वतीं समा:। शुचीना श्री मतां गेहे योग भ्रष्टोऽभिजायते। अथवा योगिनामेव कुलं भवति धीमताम्। एतद्धि दुर्लभतरं लोकेजन्म यदीदृशम्। तत्र तं बुद्धि संयोगं लभते पोर्वदेहिकम्। यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन। पूर्वाभ्यास ने येनैवह्रियते ह्यवशोऽपि स:। जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्माति वर्तते।

प्रयत्नाद्यत मानस्तु योगी संशुद्ध किल्विष:। अनेक जन्न सँसिद्धस्त- तोयाति परां गतिम्।।

हे अर्जुन! ऐसे पुण्यात्माओं का इस लोक व परलोक में कहीं भी पतन नहीं होता। कोई भी शुभ कर्म करने वाला दुर्गति को प्राप्त नहीं हो सकता। वे लोग पवित्र पुण्यात्माओं के लोकों को प्राप्त होकर बहुत समय तक वहां रह कर पुन: पवित्र श्री मानों के घर में ही जन्म ग्रहण करते हैं या बुद्धिमान योगियों के घरों में ही जन्म होता है। इस मनुष्य लोक में इस प्रकार का जन्म लेना भी अत्यन्त दुर्लभ है और ऐसा जन्म हो जाने के बाद उन योगियों को अपना पोर्वदैहिक बुद्धि संयोग प्राप्त होता है और पूर्व बुद्धि संयोग को पाकर के वे लोग पुन: सिद्धि के लिये प्रयत्न करते हैं क्योंकि पूर्व जन्म में उन्होंने इस प्रकार का अभ्यास किया था इसी कारण से उनको इस मार्ग में लगना पड़ता है। योग मार्ग का जिज्ञासु भी कर्मकाण्ड के विषय से ऊँचा उठ जाता है और प्रयत्न पूर्वक यत्न करता हुआ अपने सब पापों को धो करके अनेक जन्मों के प्रयत्न से परम गति को पा लेता है। इस प्रकार भगवान पतंजलि की आज्ञानुसार जो लोग सम्प्रज्ञात समाधि में ही किसी प्रकार विफल हो जाते हैं और निर्बीज समाधि को प्राप्त नहीं हो पाते है उनको जन्म से ही इस योग की प्रतीति होती और अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं।

यौगिक प्रश्नोत्तरी

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

आश्रम के विशुद्ध तम् वातावरण में पुन: नैत्यिक सत्संग का आरम्भ, जिज्ञासु समुदाय की शंका निवृत्यार्थ श्री गुरुदेव जी के पवित्र वचनामृत को सुनकर एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया :–

हे पूज्यपाद गुरुदेव! आपने अपने कल के व्याख्यान में भव प्रत्यय वाले योगियों की बात कही थी। वे लोग तो धन्य भाग्य हैं जो इस प्रकार का जन्म धारण करते हैं और जन्म धारण करते ही उनकी प्रवृति योग ध्यान की और बन जाती है। उनको कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। जन्म-जन्मान्तर के अभ्यास वश वे लोग पूर्ण प्रारब्धोपार्जित कर्म संयोग को पाकर बिना ही किसी प्रयास के योगी बन जाते हैं किन्तु जो लोग इस प्रकार के संस्कारी नहीं है उनकी क्या स्थिति होगी?

उत्तर : हे पुत्र! उनके लिए भी उपाय है जिसका संकेत श्री व्यासदेव जी ने अपने भाष्य में स्वयं कर दिया है—

उपाय प्रत्ययो योगिनां भवति।

अर्थात् वे अपने प्रयत्न से ठीक उस की प्रकार की स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं और पतन से परे हो जाया करते हैं। भव प्रत्यय वाले योगी तो कभी-कभी प्रमाद भी कर बैठते हैं। वे लोग अपने मन में समझ बैठते हैं कि हमें तो यह वस्तु बिना ही प्रयास के उपलब्ध हो रही है फिर हमें विशेष प्रयास करने की आवश्यकता हो क्या है? इस धारणा को लेकर पूर्व जन्मोपार्जित पुण्य के प्रभाव से प्राप्त की हुई स्थिति को खो बैठते हैं। किन्तु जो लोग पूरे-पूरे प्रयत्न के साथ अपनी समाधि स्थिति को प्राप्त करते हैं वह इस प्रकार का प्रमाद कभी नहीं करते। प्रत्युत् अपने अभ्यास में निरन्तर लगे रहा करते हैं और कालान्तर में अवश्य ही समाधि स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं।

प्रश्न : हे गुरुदेव! क्या इस प्रकार के लोगों का मन कभी भी विचलित नहीं होता और क्या वे अपने प्रयत्न में दृढ़ता से लगे ही रहते हैं?

उतर : हे पुत्र! उनकी श्रद्धा ऐसी ही होती है जिसके कारण अभ्यास से कभी भी विचलित नहीं होते। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में स्वयं अपने मुखारविन्द में ये शब्द कहे हैं :—

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धा मयोऽयं पुरुषो योयच्छद्य स एव स:।।

अर्थात् जिस व्यक्ति के अन्दर जितना अधिक सतोगुण का विकास हो जाया करता है वैसी ही उनके मन में दृढ़ श्रद्धा पैदा हो जाती है- और परमात्मा का रूप श्रद्धामय है जैसी जिसकी श्रद्धा होती है परमात्मा वैसा ही बन जाया करत है।

प्रश्न : हे गुरुदेव भगवान के इस कथनानुसार तो परमात्मा अनेक रूप हो गया। इसका अर्थ तो यह हुआ कि साधक जिस भावना से उसको चाहेगा परमात्मा वैसा ही होकर उसको मिल जायेगा। इसके अनुसार तो हिन्दू, ईसाई, मुसलमान, यहूदी, फारसी सभी के मत ठीक हैं क्योंकि वे लोग भी किसी न किसी नाम रूप से तो परमात्मा की चहाते ही हैं। क्या उनकी भावनानुसार उसको परमात्मा नहीं मिलेगा?

उत्तर : हे पुत्र! उनकी भावनानुसार उनको उस परमात्मा के अनुसार वे भी किसी न किसी नाम रूप से परमात्मा को चाह ही रहे हैं। यथार्थता से परमात्मा काम क्लेशादि से रहित निर्गुण, निर्विकार एवं निराकार रही हमारी तुम्हारी भावना की बात उसके अनुसार तो योगच्छ्रद्ध: स एव स: का नियम लागू हो ही जायेगा।

प्रश्न : हे गुरुदेव! इसका तो अर्थ यह हुआ कि साधक स्वतन्त्र है। जैसी यह मन में कल्पना करेगा वैसा ही चिन्तन कर लेगा?

उत्तर : हां पुत्र! इसमें यत किंचित भी असत्य नहीं है। जैसा उसके मन में आयेगा वैसा ही चिन्तन कर लेगा। यह तो ठीक ही है प्रत्युत कर लेगा ही नहीं करता ही है। तुम अपने अन्दर विचार करके देखो कि भगवान श्रीराम श्रीकृष्ण भगवान सदाशिवादि के चित्र नाना प्रकार के मिलते हैं। सभी चित्र, चित्रकार के अपने मन की कल्पना ही तो है। तुम स्वयं ही इस बात का विचार करो जैसे नाना प्रकार के चित्र बाजारों में मिलते हैं, क्या भगवान कृष्ण का अपना रूप इस ही प्रकार का था। मन गवाहों देगा कि नहीं-नहीं। ये सभी चित्र तो केवल मात्र काल्पनिक चित्र हैं। अभ्यास करने वाला साधक उनको उनके जीवनकाल में देखकर तो आया नहीं था। अब सोच समझकर पुस्तकों में जैसा वर्णन मिला वैसा ही साधक अपनी कल्पना से उनको मान बैठा। जहां पर

भगवान पतंजलिदेव ने उपाय प्रत्यय का वर्णन किया है वहां पर साधकों की संतुष्टि के लिए निम्नांकित सूत्र का उल्लेख किया है—

श्रद्धा वीर्य्य स्मृति समाधिप्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्।

अर्थात् उपाय प्रत्यय का सहारा लेने वाले योगियों के लिये श्रद्धा, वीर्य, स्मृति के द्वारा समाधि की प्राप्ति होती है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! क्या श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि आदि योगी को निर्विकल्प समाधि तक पहुँचा देते हैं?

उत्तर : हां पुत्र! बिल्कुल पहुँचा देते हैं तुम व्यास भाष्य में व्यास देव जी के विचार पढ़ो वे क्या कह रहे हैं–

उपाय प्रत्ययो योगिना भवति श्रद्धाः चेतसः सम्प्रसादः। सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति, तस्य ही श्रद्धावानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते, समुपजात वीर्यस्य स्मृतिरूप तिष्ठते, स्मृत्युपस्थाने च चित्त मनाकुलं समाधीयते। समाहित चित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपार्तवते, येन यथा द्वस्तु जानाति तदभ्यासात् तद्विषयाच्च वैराग्यपाद सम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति।

अर्थात् श्रद्धा चित्त का प्रसाद है और वह श्रद्धा जन्म देने वाली माता की तरह योगी की रक्षा किया करती है। विवेक ज्ञान को प्राप्त होने की इच्छा वाला योगी ज्यों-ज्यों अपने अभ्यास को बढ़ाता है त्यों-त्यों उसकी श्रद्धा दृढ़ता को पाती चली जाती है और जिसके मन के अन्दर श्रद्धानुलोप दृढ़ता बढ़ती चली जाती है उसको स्मृति का उपस्थान होता चला जाता है और ज्यों-ज्यों स्मृति स्थिति पाती है त्यों-त्यों चित्त निर्विघ्न समाधिस्थ हो जाता है और चित्त के समाधिस्थ होने के बाद अपने आप ही प्रज्ञा विवेक प्राप्त हो जाता है जिससे साधक वस्तु तत्व का यथार्थ ज्ञाता बन जाता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! स्मृत्युपस्थान किसको कहते हैं क्या स्मृति स्थिति इतनी बड़ी वस्तु है कि जिससे चित्त निर्विघ्न समाधिस्थ हो जाय?

उत्तर : हाँ पुत्र! स्मृति स्थिति ठीक इस ही प्रकार की वस्तु है क्या तुम स्मृति का अर्थ नहीं जानते? भगवान पतञ्जलि देव ने तो जहाँ पहले वृत्तियों का वर्णन किया है वहां पर स्मृतियों का लक्षण बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है :—

अनुभूत विषया संप्रमोषः स्मृतिः।

अर्थात् अनुभव में आये हुए विषय का न भुलाया जाना ही स्मृति कहलाती है। योगी जिस वस्तु को एक बार जान लेता है वह उसे भूला नहीं करता और जिस योगी के मन में इस वस्तु का ज्ञान कायम हो जायगा तब एक बार वस्तु तत्व के जान लेने पर वह उसे भूलता ही नहीं ऐसी स्थिति में वह अनायास ही समाधि को प्राप्त कर लेगा और समाधि प्राप्त हो जाने पर ज्यों-ज्यों उसकी स्थिति स्पष्ट होती चली जायेगी त्यों-त्यों प्रज्ञा विवेक प्रगट होता चला जायेगा और प्रज्ञा विवेक पैदा हो जाने के बाद योगी वस्तु तत्व की यथार्थता का ज्ञाता अनायास ही बन जायेगा।

प्रश्न : हे गुरुदेव! प्रज्ञा विवेक किसे कहते हैं जिससे मनुष्य यथार्थता का ज्ञाता बन जाता है?

उत्तर : हे पुत्र! प्रज्ञा विवेक ऋतम्भरा प्रज्ञा का ही एक नाम है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! ऋतम्भरा प्रज्ञा किसे कहते हैं और वह योगी को कब प्राप्त होती है।

उत्तर : हे पुत्र! ऋतम्भरा प्रज्ञा उसी का नाम है जो बुद्धि सत्य को ही धारण करती है अर्थात् जिसकी बुद्धि में यथार्थता के अतिरिक्त और कोई भाव आता ही नहीं है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! योगी को यह बुद्धि कब और कैसी स्थिति में प्राप्त होती है?

उत्तर : हे पुत्र! ये बुद्धि योगी को, जब वह अस्मितानुगत समाधि को प्राप्त कर लेती है, तभी प्राप्त होती है और फिर वह योगी पतन से परे हो जाया करता है क्योंकि भगवान पतंजलिदेव स्वयं यह आदेश करते हैं कि—

'तज्जः संस्कारो अन्य संस्कार प्रतिबंधी'

अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कारों के उदय हो जाने के बाद योगी के मन में और किसी प्रकार के संस्कार का उदय होता हो नहीं है। ऋतम्भरा प्रज्ञा अन्य संस्कारों को रोकने के लिए दीवार का काम करती है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! यह तो आपने स्मृत्युपस्थान की बात कही जिसमें श्रद्धा मूलकारण बनती है मेरे मन में एक शंका और पैदा हुई और उसका इस विषय से सम्बन्ध भी है। आप उसका निराकरण और कर दीजिए और वह यह है कि आजकल के समय में बहुत से इस प्रकार के प्रचारक हो गये हैं जो यह कहते हैं कि मन को चाहें जहां लगा लेना चाहिए। और कई एकों का तों इस प्रकार का सिद्धांत है कि युवा स्त्री-पुरुषों को आमन-सामने बैठ कर एक-दूसरे को देखते हुए मन एकाग्र करना चाहिए।

उत्तर : ''हे पुत्र! ये उन लोगों के मानस विकार हैं किन्तु शास्त्रीय सिद्धांत के अनुसार इस प्रकार के चिन्तन मनुष्य को पतन की ओर ले जाने वाले सहज में ही हो सकते हैं। इस प्रकार के चिन्तन चट-पट वासना में बदल जाते हैं और इसका फल अंततः पतन के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। भगवान श्रीकृष्ण का गीता में आदेश हैं :—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगतेषूपजायते।

संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधाभिजायते।।
क्रोधात् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृति विभ्रमः।
स्मृति भ्रंशाद् बुद्धि नाशो बुद्धि नाशात् प्रणश्यति।।

अर्थात् ज्यों ही मनुष्य वासनिक चिन्तन करता है त्यों-त्यों उसके मन में वह वासना और कामना बढ़ती चली जाती हैं और कामना के अत्यधिक बढ़ जाने पर यदि उसकी उपलब्धि नहीं होती है और क्रोध हो जाने पर बड़ा भारी मोह मतिभ्रम और स्मृति का भ्रंश होने लगता है और स्मृति भ्रंश होने पर बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश हो जाने के बाद केवल मात्र प्रणश्यति की ही डिग्री मिलती है इसलिये इस प्रकार के चिन्तन साधक को कामनाओं के गर्त में गिरा कर उत्थान की अपेक्षा घोर पतन कर डालते हैं। इसलिये साधक के लिए तो सर्वथा यही उचित है कि–

विहाय कामान् यः
सर्वान् प्रमांस च निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः
सशान्तिमधिगच्छति।।

आपूर्यमाणमचल प्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्तियद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
सशान्ति माप्नोतिनकामकामी।

अर्थात् जो मनुष्य सब कामनाओं को त्याग करके निर्ममोनिहंकार होकर घूमता है वह शान्ति को प्राप्त कर लेता है भगवान इसी बात को स्पष्टीकरण के साथ समझाने हेतु उदाहरण देकर समझाते हैं कि—

जिस प्रकार से सभी नदी नाले समुद्र में मिलकर के अपने नाम और रूप को खो बैठते हैं ठीक इस ही प्रकार से सभी कामनायें मनुष्य के मन में जागकर खत्म हो जाती हैं वह मनुष्य शान्ति को प्राप्त कर लेता है और जो मनुष्य कामनाओं के पीछे दोड़ता है वह कभी भी शान्ति को नहीं पा सकता। इसलिये प्रत्येक साधक को चाहिये कि वह **'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः'** के सही अर्थ को समझाकर **'चित्तवृत्तिनां नितरांरोधः'** की यथार्थ स्थिति को प्राप्त करे यही कल्याण का आदि श्रोत है।

यौगिक प्रश्नोत्तरी

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

आश्रम के विशुद्धतम वातावरण में पुन: नैत्यिक सत्सङ्ग का आरम्भ, जिज्ञासु समुदाय की शङ्का निवारणार्थ, श्री गुरुदेव जी पवित्र वचनामृत को सुनकर एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया—

प्रश्न : हे पूज्य गुरुदेव! आपने अपने कल के व्याख्यान में प्रताप वाले योगियों की बात कही थी। वे लोग तो धन्य-भाग हैं जो इस प्रकार का जन्म धारण करते हैं और जन्म धारण करते ही उनकी प्रवृति योग ध्यान की ओर बन जाती है। उनको कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता जन्म-जन्मान्तर के अभ्यास वश वे लोग पूण प्रारब्धोपार्जित कर्म संयोग को पाकर बिना ही किसी प्रयास के योगी बन जाते हैं किन्तु जो लोग इस प्रकार के संस्कारी नहीं हैं उनकी क्या स्थिति होगी?

उत्तर : हे पुत्र! उनके लिये भी उपाय है जिसका संकेत श्री व्यासदेव जी ने अपने भाष्य में स्वयं कर दिया है—

उपाय प्रत्ययो योगिनां भवति।

अर्थात् वे अपने प्रयत्न से ठीक उस ही प्रकार की स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं और पतन से परे हो जाया करते हैं। भव प्रत्यय वाले योगी तो कभी-कभी प्रमाद भी कर बैठते हैं। वे लोग अपने मन में समझ बैठते हैं कि हमें तो यह वस्तु बिना ही प्रयास के उपलब्ध हो रही है फिर हमें विशेष प्रयास करने की आवश्यकता ही क्या है? इस धारणा को लेकर पूर्व जन्मोपार्जित पुण्य के प्रभाव से प्राप्त की हुई स्थिति को खो बैठते हैं। किन्तु लो लोग पूरे-पूरे प्रयत्न के साथ अपना समाधि स्थिति को प्राप्त करते हैं वह इस प्रकार का प्रमाद कभी भी नहीं करते। प्रत्युत अपने अभ्यास में निरन्तर लगे रहा करते हैं और कालान्तर में अवश्य ही समाधि स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं।

प्रश्न : हे गुरुदेव! क्या इस प्रकार के लोगों का मन कभी भी विचलित नहीं होता और क्या वे अपने प्रयत्न में दृढ़ता से लगे ही रहते हैं।

उत्तर : हे पुत्र! उनकी श्रद्धा ऐसी ही होती है जिसके कारण अभ्यास से कभी भी विचलित नहीं होते। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में स्वयं अपने मुखारविन्द से ये शब्द कहे हैं।

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धा मयोऽयं पुरुषो योयच्छद्य स एव स:।।

अर्थात् जिस व्यक्ति के अन्दर जितना अधिक सतोगुण का विकास हो जाया करता है वैसी ही उनके मन में दृढ़ श्रद्धा पैदा हो जाती है और परमात्मा का रूप श्रद्धामय है जैसी जिसकी श्रद्धा होती है परमात्मा वैसा ही बन जाया करता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! भगवान के इस कथनानुसार तो परमात्मा अनेक रूप हो गया। इसका अर्थ तो यह हुआ कि साधक जिस भावना से उसको चाहेगा परमात्मा वैसा ही होकर उसको मिल जायेगा। इसके अनुसार तो हिन्दु, ईसाई, मुसलमान, यहूदी, फारसी सभी के मत ठीक हैं क्योंकि वे लोग भी किसी न किसी नाम रूप से तो परमात्मा को चाहते ही हैं। क्या उनकी भावनानुसार उसको परमात्मा नहीं मिलेगा?

उत्तर : हे पुत्र! उनकी भावनानुसार उनको उस परमात्मा के दर्शन अवश्य होंगे। गुण्डे-गुण्डे मतिर्भिन्ना के अनुसार वे भी किसी न किसी नाम रूप से परमात्मा को चाह ही रहे हैं। यथार्थता से तो परमात्मा काय क्लेशादि से रहित निर्गुण, निर्विकार एवं निराकार है ही। रही हमारी तुम्हारी भावना की बात उसके अनुसार तो योयच्छ्रद्ध: स एव स: का नियम लागू हो ही जायेगा।

प्रश्न : हे गुरुदेव! इसका तो अर्थ यह हुआ कि साधक स्वतन्त्र है। जैसी उसके मन में कल्पना करेगा वैसा ही चिन्तन कर लेगा?

उत्तर : हां पुत्र! इसमें यत किंचित भी असत्य नहीं है। जैसा उसके मन में आयेगा वैसा ही चिन्तन कर लेगा। यह तो ठीक ही हैं प्रत्युत कर लेगा ही नहीं करता ही है। तुम अपने अन्दर विचार करके देखो कि भगवान श्रीराम, श्रीकृष्ण, भगवान सदाशिवादि के चित्र नाना प्रकार के मिलते हैं। ये सभी चित्र, चित्रकार के अपने मन की कल्पना ही तो है। तुम स्वयं ही इस बात का विचार करो जैसे नाना प्रकार के चित्र बाजारों में मिलते हैं? क्या भगवान कृष्ण का अपना रूप इस ही प्रकार का था। मन गवाही देगा कि नहीं-नहीं। ये सभी चित्र तो केवल मात्र काल्पनिक चित्र है। अभ्यास करने वाला साधक उनको उनके लीला काल में देखकर तो

आया नहीं था। अब सोच समझकर पुस्तकों में जैसा वर्णन मिला वैसा ही साधक अपनी कल्पना से उनको मान बैठा जहां पर भगवान पतञ्जलि देव ने उपाय प्रत्यय का वर्णन किया है वहां पर साधकों की संतुष्टि के लिये निम्नाङ्कित सूत्र का उल्लेख किया है—

श्रद्धावीर्य्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

अर्थात् उपाय प्रत्यय का सहारा लेने वाले योगियों के लिये श्रद्धा, वीर्य, स्मृति के द्वारा समाधि की प्राप्ति होती है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! क्या श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि आदि योगी को लक्ष्य तक पहुँचा देते हैं?

उत्तर : हां पुत्र! बिल्कुल पहुँचा देते हैं तुम भाष्य में व्यासदेव जी के विचार पढ़ो वे क्या कह रहे हैं—

उपाय प्रत्ययो योगिनां भवति, श्रद्धा = चेतसः सम्प्रसाद सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति, तस्य ही श्रदधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते, समुसजात वीर्य्यस्य स्मृति रूप तिष्ठते, स्मृत्युषस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते, समाहित चितस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते, येन यथावद्धस्तु जानाति तदभ्यासात् तद्विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधि-र्भवति।

अर्थात् श्रद्धा चित्त का प्रसाद है और वह श्रद्धा जन्म देने वाली माता की तरह योगी की रक्षा किया करती है। विवेक ज्ञान को प्राप्त होने की इच्छा वाला योगी ज्यों-ज्यों अपने अभ्यास को बढ़ाता है त्यों-त्यों उसकी श्रद्धा दृढता को पाती चली जाती है और जिसके मन के अन्दर श्रद्धानुलोप दृढ़ता बढ़ती चली जाती है उसको स्मृति का उपस्थान होता चला जाता है और ज्यों-ज्यों स्मृति स्थिति पाता है त्यों-त्यों चित्त निर्विघ्न समाधिस्थ हो जाता है और चित्त के समाधिस्थ होने के बाद अपने आप ही प्रज्ञाविवेक प्राप्त हो जाता है जिससे साधक वस्तु तत्व का यथार्थ ज्ञाता बन जाता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! स्मृत्युपस्थान किसको कहते हैं क्या स्मृति स्थिति इतनी बड़ी वस्तु है कि जिससे चित्त निर्विघ्न समाधिस्थ हो जाये?

उत्तर : हां पुत्र! स्मृति स्थिति ठीक इसकी प्रकार की वस्तु है क्या तुम स्मृति का अर्थ नहीं जानते? भगवान पतञ्जलि देव ने तो जहां पहले वृत्तियों को वर्णन किया है वहां पर स्मृतियों का लक्षण बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में लिखा दिया है—

अनुभूत विषयासप्रमोषः स्मृतिः।

अर्थात् अनुभव मे आये हुये विषय का न चुराया जाना ही स्मृति कहलाती है। योगी जिस वस्तु को एक बार जान लेता है वह उसे भूला नहीं करता और जिस योगी के मन में इस वस्तु का ज्ञान कायम हो जायेगा कि एक बार वस्तु तत्व के जान जाने पर वह उसे भूलता ही नहीं, ऐसी स्थिति में वह अनायास ही समाधि को प्राप्त कर लेगा और समाधि प्राप्त हो जाने पर ज्यों-ज्यों उसकी स्थिति स्पष्ट होती चली जायेगी त्यों-त्यों प्रज्ञाविवेक प्रगट होता चला जायेगा और प्रज्ञाविवेक पैदा हो जाने के बाद योगी वस्तु तत्व की यथार्थता का ज्ञाता अनायास ही बन जायेगा।

प्रश्न : हे गुरुदेव! प्रज्ञाविवेक किसे कहते हैं जिससे मनुष्य यथार्थता का ज्ञाता बन जाता है?

उत्तर : हे पुत्र! प्रज्ञाविवेक ऋतम्भरा प्रज्ञा का ही एक नाम है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! ऋतम्भरा प्रज्ञा किसे कहते हैं और वह योगी को कब प्राप्त होती है?

उत्तर : हे पुत्र! ऋतम्भरा प्रज्ञा उसी का नाम है जो बुद्धि सत्य को ही धारण करती है अर्थात् जिसकी बुद्धि में यथार्थता के अतिरिक्त और कोई भाव आता ही नहीं है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! योगी को यह बुद्धि कब और कैसी स्थिति में प्राप्त होती है?

उत्तर : हे पुत्र! ये बुद्धि योगी को, जब वह अस्मितानुगत समाधि को प्राप्त कर लेता है तभी प्राप्त होती है और फिर वह योगी पतन से परे हो जाया करता है क्योंकि भगवान पतञ्जलि देव स्वयं यह आदेश करते हैं कि—

तज्जः संस्कारो अन्य संस्कार प्रतिबन्धी।

अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कारों के उदय हो जाने के बाद योगी के मन में और किसी प्रकार के संस्कार का उदय होता ही नहीं है। ऋतम्भरा प्रज्ञा अन्य संस्कारों को रोकने के लिये दीवार का काम करती है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! यह तो आपने स्मृत्युपस्थान की बात कही जिसमें श्रद्धा मूल कारण बनती है मेरे मन में एक शङ्का और पैदा होती है और उसका इस विषय में सम्बन्ध भी है। कृपा करके उसका निराकरण और कर दीजिये और वह यह है कि आजकल के समय में बहुत से इस प्रकार के प्रचारक हो गये हैं जो यह कहते हैं कि मन को चाहे जहां लगा लेना चाहिये और कई एकों का तो इस प्रकार का सिद्धान्त है कि युवा स्त्री पुरुषों को आमने सामने बैठकर एक दूसरे को देखते हुये मन एकाग्र करना चाहिये।

उत्तर : हे पुत्र! ये उन लोगों के मानस विचार हैं किन्तु शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार इस प्रकार के चिन्तन मनुष्य को पतन की और ले जाने वाले सहज ही में हो सकते हैं। इस प्रकार के चिन्तन चट-पट वासना में बदल सकते हैं और उसका फल अन्ततः पतन के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। भगवान श्रीकृष्ण का गीता में आदेश है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधाभिजायते।।
क्रोधात् भवति संमोहः संमोहात् स्मृति विभ्रमः।
स्मृति भ्रँशात् बुद्धि नाशो बुद्धि नाशात् प्रणश्यति।।

अर्थात् ज्यों ही मनुष्य वासनिक चिन्तन करता है त्यों-त्यों उसके मन में वह वासना और कामना बढ़ती चली जाती है और कामना के अत्याधिक बढ़ जाने पर यदि उसकी उपलब्धि नहीं होती है तो मन में बड़ा भारी क्रोध पैदा हो जाता है और क्रोध हो जाने पर बड़ा भारी मोह, मति भ्रम और स्मृति का भ्रंश होने लगता है और स्मृति भ्रंश होने पर बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश हो जाने के बाद केवल मात्र प्रणश्यति की ही डिग्री मिलती है इसलिये इस प्रकार के चिन्तन साधक को कामनाओं के गर्त में गिराकर उत्थान की अपेक्षा घोर पतन कर डालते हैं। इसलिये साधक के लिये तो सर्वथा यही उचित है कि—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांस चरतिनिस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्ति मधिगच्छति।।

आपूर्यमाणमचल प्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्तियद्वत्।
तदवत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शांति माप्नोतिनकामकमी।।

अर्थात् जो मनुष्य सब कामनाओं को त्याग करके निर्ममोनिहंकार होकर के घूमता है वह शान्ति को प्राप्त कर लेता है। भगवान इसी बात को स्पष्टीकरण के साथ समझाने हेतु उदाहरण देकर समझाते हैं कि—

जिस प्रकार से सभी नदी नाले समुद्र में मिलकर के अपने नाम और रूप को खो बैठते है ठीक इस ही प्रकार से सभी कामनायें मनुष्य के मन में जागकर खत्म हो जाती हैं वह मनुष्य शान्ति हो प्राप्त कर लेता है और जो मनुष्य कामनाओं के पीछे दौड़ता है वह कभी भी शान्ति को नहीं पा सकता इसलिये प्रत्येक साधक को चाहिये कि वह ''**योगश्चित्त वृत्ति निरोधः**'' के सही अर्थ को समझकर ''**चित्त वृत्तिनां नितरांरोधः**'' की यथार्थ स्थिति को प्राप्त करे। वही कल्याण का आदि श्रोत है।

यौगिक प्रश्नोत्तरी

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

श्रावण का महीना था। योगाचार्य श्री तपोनिधि जी के आश्रम में रुद्र महायज्ञ चल रहा था जिसमें अनेकों वेदपाठी ब्राह्मण और तपस्वी महात्मा भाग ले रहे थे। आश्रम के सभी बटुक अपनी संयमित दिनचर्या एवं सेवा भाव से इस यज्ञ को सफल बनाने की चेष्टा कर रहे थे। दूर-दूर से आये हुए सैकड़ों योग प्रेमी सद्गृहस्थ तथा विरक्त ब्रह्मचारी भी योगाचार्य जी के निर्देशन में तपश्चर्या करते हुए अपने जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न कर रहे थे।

प्रतिदिन की भांति आज भी योगाचार्य गीता का पवित्र उपदेश सुनाकर अपनी कुटिया में जाकर समाधि में लीन हो गये थे। आश्रम के कुछ ब्रह्मचारी अपनी-अपनी कुटियों में बैठकर ध्यानाभ्यास कर रहे थे तथा कुछ आश्रम की व्यवस्था में लगे हुए थे। उनमें से कुछ व्यक्ति बाहर से आये हुए योग-साधकों को योगक्रियायें सिखा रहे थे। यज्ञशाला में वेदपाठी ब्राह्मणों द्वारा की जा रही वेदमन्त्रों की चित्ताकर्षक ध्वनि आश्रम के पवित्र वातावरण को और भी पवित्र बना रही थी। सभी योगानुरागी सद्गृहस्थ तथा विरक्त महात्मा नित्य क्रियाओं से निवृत्त होकर तथा यौगिक व्यायाम करके यज्ञशाला में एकत्रित होते जा रहे थे और वहीं बैठकर वेदमन्त्रों की पवित्र ध्वनि में मन को एकाग्र करते हुए ध्यानाभ्यास कर रहे थे। वेदपाठ का यह कार्यक्रम तीसरे पहर के आरम्भ तक चलता रहा।

तब तक कई नये दर्शनार्थी भी आश्रम में पहुँच गये थे। वे सत्सङ्ग भवन में बैठकर योगिराज जी के आने की प्रतीक्षा करने लगे। उनके कान वेदमन्त्रों के श्रवण में लगे थे और दृष्टि योगिराज जी की कुटिया की ओर ही टिकी हुई थी। इतने में ही ''हर हर महादेव'' की ध्वनि के साथ ही वेदपाठ का समापन हुआ और शङ्कर भगवान की जय, यज्ञ भगवान की जय, योगिराज महाराज की जय- आदि जयघोषों से अन्तरिक्ष गूँज उठा। सभी लोग सत्सङ्ग भवन से यज्ञशाला की ओर दौड़े-दौड़े गये और आरती में सम्मिलित हो गये। आरती के पश्चात् याज्ञिक लोग अल्पाहार के लिए भोजनालय में चले गये। सभी लोगों ने भी लम्बी पंक्तियों में बैठकर एकसाथ भोजन-प्रसाद ग्रहण किया।

भोजनोपरान्त वे पुन: सत्सङ्ग भवन में एकत्रित होकर प्रभूनाम सङ्कीर्तन में मस्त हो गये। उनका अन्तिम सङ्कीर्तन था—

सब जग छोड़ के मेरे प्रभुजी
तेरी शरण में आया हूँ।
दुनिया का मैं परम पातकी
जग बैरी कहलाया हूँ।।
ना जानूँ मैं ध्यान-धारणा
ना जानूँ भक्ती तेरी।
आया कृपापात्र बनने को
देखूँ तो शक्ती तेरी।।
तोड़ सभी जग के बन्धन को
तेरी शरण में आया हूँ।
सब जग छोड़ के मेरे प्रभुजी
तेरी शरण में आया हूँ।।
जिसने द्वार पै आकर तेरे
अपना हाथ पसारा है।
उसकी डूबती नैया का
प्रभु तू ही बना किनारा है।।
सुना है लाखों पतितों को
प्रभु तूने क्षण में तारा है।
मैं फिर क्यों रह जाऊँ अभागा
अकेला मिला जो तेरा सहारा है।।
संस्कारों की बाँध पोटली
चरण तुम्हारे लाया हूँ।
सब जग छोड़ के मेरे प्रभुजी
तेरी शरण में आया हूँ।
नहीं चाह धन धान्य रत्न की
नहिं इच्छा यश गौरव की।
केवल गुरुपद भक्ति मिले
अरु शरण मिले इन चरणन की।।

तोड़ सभी जग के बन्धन को
तेरी शरण में आया हूँ।
सब जग छोड़ के मेरे प्रभुजी
तेरी शरण में आया हूँ।।

इस सङ्कीर्तन के समाप्त होने के साथ ही योगाचार्य जी की कुटिया के कपाट खुले। वे बाहर निकलकर अपनी मस्तानी चाल से चलते हुए सत्सङ्ग भवन की ओर बढ़े। वहां पहुँचकर अभय मुद्रा में मन्द मुस्कान के साथ उपस्थित जन-समूह पर दृष्टिपात किया और फिर गम्भीर मुद्रा में अपने आसन पर विराजमान हो गये। सभी सत्सङ्गियों ने खड़े होकर एवं सिर झुकाकर उन्हें अभिवादन किया और उनका संकेत पाकर सभी यथा स्थान बैठ गया।

कुछ क्षण मौन रहने के उपरान्त योगाचार्य जी ने एक बार फिर चारों ओर दृष्टिपात किया और फिर अमृत बरसाने वाली अत्यन्त मधुर एवं गम्भीर वाणी में बोले—

पवित्रात्माओं! तुम सब परम भाग्यशाली हो। अपने भाग्य की सराहना चाहिए जो कि तुम्हें योगमार्ग मिला हुआ है। दुनिया में और सब कुछ मिल जाया करता है, किन्तु यह योगमार्ग बड़ी कठिनता से मिला करता है। अब तुम्हें अपनी करनी में कोई कसर नहीं रखनी चाहिए। जैसा तुम्हें उपदेश दिया गया है उस प्रकार से खूब अभ्यास करते रहो और समाधि की ओर बढ़ने का प्रयास करो। योग जैसी अमर निधि पाकर तुम निहाल हो जाओगे, कृतार्थ हो जाओगे। अत: ध्यान की साधना करो। सब कुछ पा जाओगे देखो! कालचक्र-युगचक्र को एक साथ घुमाने वाले, समस्त ब्राह्मणों के स्वामी और प्राणी मात्र के आत्मा श्रीकृष्ण ने कितने ऊँचे शब्दों में योग की महिमा को बतलाया है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक:।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन।।

अर्थात् तपस्वियों से योगी श्रेष्ठ है शास्त्रों के पारङ्गत विद्वानों से योगी श्रेष्ठ है और कर्मकाण्डियों से भी योगी का स्थान श्रेष्ठ है। इसलिए हे अर्जुन! तू योगी बन।

हम प्रतिदिन तुम्हें योग सिद्धांत बताते रहते हैं। तुम उन्हें समझकर उन पर आचरण करने का प्रयत्न करो। अवश्य ही परम कल्याण के भागी बन जाओगे। यह कहकर योगाचार्य जी मौन हो गये।

इतने में ही उपस्थित समुदाय में से एक साधक ने अत्यन्त विनय पूर्वक करबद्ध होकर निवेदन किया—

प्रश्न : महाराज जी! आपने अपने कल के प्रवचन में समाधि प्राप्त के कई उपाय बताये थे और उनमें एक 'वीतराग पुरुषों का ध्यान' भी बताया था। प्रभो! वीतराग पुरुष कौन कहलाते हैं और उनके ध्यान की क्या विधि है? इस बात को पुन: खोलकर समझाने की कृपा कीजिए-

उत्तर : हे पुत्र! सुनो, भगवान पतञ्जलि देव जी योगदर्शन के समाधिपाद में समाधि प्राप्ति के विविध उपायों का वर्णन करते हुए यह सूत्र लिखा है—

वीतराग विषयं वा चिन्तम्।

अर्थात् रागरहित चित्त जिसने वासनिक अभिलाषा को पूरी तरह त्याग दिया है और जो चित्त अविद्या आदि सभी क्लेशों से रहित हो चुका है, ऐसे चित्त का अवलम्ब लेने से योगी का चित्त समाधि को प्राप्त हो जाता है।

संसार में अनेक वीतराग पुरुष हैं। वे तभी महापुरुष जो गुणाधिकार को भलीभांति समझकर निस्त्रैगुण्य स्थिति को प्राप्त हो चुके हैं तथा जिनके लिए गीता में कहा गया है—

ज्ञान त्रिज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेनिद्रय:।
युक्त इच्युच्यते यीची समलोष्टाश्म काञ्चन:।।

जिनका अन्त:करण ज्ञान-विज्ञान से पूरी तरह तृप्त हैं। अर्थात् प्रकृति के सभी के विश्लेषणों पर जिनका पूरा अधिकार हो चुका है, जिसकी इन्द्रियां भली भांति जीती हुई हैं और जिनके लिए मिट्टी, पत्थर तथा सोना ये सब चीजें समान हैं। वह महापुरुष युक्त योगी कहलाता है। इस प्रकार सिद्धकोटि में गिने जाने वाले योगैश्वर्य के धनी सभी महापुरुष वीतराग पुरुष ही कहलाते हैं।

वीतराग पुरुष के ध्यान की यही विधि है कि साधक उनकी आकृति का दृढ़तापूर्वक चिंतन करता रहे, उसी आकृति को ही अपनी धारणा का विषय बनाये। ऐसा करते हुए वह कालान्तर में समाधि को प्राप्त हो जायगा इसमें कोई सन्देह नहीं है। गीता में जगदात्मा श्रीकृष्णचन्द्र ने इस सिद्धान्त का पूरा-पूरा अनुमोदन किया है। अर्जुन को योगोपदेश देते हुए वे आदेश देते हैं—

मय्येव मन आधत्सव मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय:।।

हे अर्जुन! तू मुझ में ही अपना मन लगा दे, और अपनी बुद्धि को मेरे अन्दर प्रवेश करा दे। ऐसा कर लेने के उपरान्त तू मुझमें ही प्रवेश कर जायेगा, मुझमें ही रहेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

वीतराग विषयं वा चित्तम्।

का भी यही भाव है कि— साधक को वीतराग पुरुषों के मन में अपना मन, उनकी बुद्धि में अपनी बुद्धि और अहंकार में अहंकार को विलीन कर देना चाहिए। ऐसा करने पर वह उन्हीं के मन वाला बन कर स्वयं भी वैसा बन जायगा। ध्येय के सभी गुण धर्म उसमें प्रकट हो जायेंगे।

प्रश्न : गुरुदेव! आपका यह कथन ठीक है कि किसी वीतराग महापुरुष के या अपने इष्टदेव के मन में मन और बुद्धि में बुद्धि मिला देने से साधक उनके गुण धर्मों एवं शक्तियों से विभूषित हो सकता है, किन्तु उनके मन में अपना मन और उनकी बुद्धि में अपनी बुद्धि मिला देना मुझे असम्भव सा प्रतीत हो रहा है। अत: इस विषय को विस्तार पूर्वक समझाने की कृपा कीजिए।

उत्तर : हे पुत्र! तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर श्रीमद् भागवत पुराण देता है, इससे तुम्हारे सन्देह की निवृत्ति हो जायगी। योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज ने भागवत में इस सिद्धांत को स्वीकार किया है कि मन में मन और बुद्धि में बुद्धि विलीन हो सकती हैं जैसे-

विषयान् ध्यायतो चित्तं विषयेषु विषज्जति।
मामनुस्मरतो नित्यं मय्येव प्रविलीयते।।

सांसारिक विषयों का चिन्तन करता हुआ चित्त उन रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयों में ही रचा-पचा रहता है किन्तु मुझे परमेश्वर का निरन्तर चिन्तन करता हुआ वही चित्त मुझ में ही पूरी तरह से मिल जाता है। श्रीमद् भागवत् पुराण के ११वें स्कन्ध के २९ वें अध्याय में भगवान ने अपने प्रिय भक्त उद्धव जी को यही विषय स्पष्टीकरण के साथ समझाते कहा है :—

हन्त ते कथयिष्यामि मम् धर्मान् सुमङ्गलान्।
याञ्छ्रद्धयाचरन्मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम्।।
कुर्यात्सर्वाणि कर्माणि मदर्थं सनवैः स्मरन्।
मय्यर्पित मनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनो रतिः।।

प्रिय उद्धव! अब मैं तुम्हें अपने उन भागवत् धर्मों का उपदेश करता हूँ जिनका श्रद्धा पूर्वक आचरण करता हुआ मनुष्य मृत्युरूप संसार सागर को अनायास ही पार कर जाता है। मेरे भक्त को चाहिए कि वह सारे कर्म मेरे लिए ही करें और मेरे स्मरण का लगातार अभ्यास करता रहे। ऐसा करने से कुछ ही दिनों में उसके मन और बुद्धि मुझ में समर्पित हो जायेंगे और उसके मन व आत्मा मेरे ही धर्मों में रम जायेंगे। गीता में भी तो भगवान का यही पवित्र आदेश है कि हे अर्जुन! तू अपना मन और बुद्धि मुझमें लगा दे। इतना कर लेने पर तू मेरा ही रूप बन जायगा। अगले दो श्लोकों में उसे और भी सरल उपाय बताते हुए कहा गया है :—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिराम्।
अभ्यास योगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जयः।।
अभ्यासेप्यसमार्थोसि मत्कर्म परमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिभवाप्स्यसि।।

हे अर्जुन! यदि तू अपना मन और चित्त मुझ परमेश्वर में लगाने में असमर्थ है तो अभ्यासरूप योग के द्वारा अर्थात् ध्यानाभ्यास के द्वारा मुझे प्राप्त करने का प्रयत्न कर। यदि तू मन्त्र जप एवं ध्यानाभ्यासादि करने में भी असमर्थ हैं तो मुझ परमेश्वर को ही परम आश्रय समझकर निष्काम भाव से यज्ञ, दान तथा तप आदि शास्त्र विहित कर्मों को मेरी प्रसन्नता के लिए करता जा, मेरे निमित्त करता हुआ भी तू मेरी प्राप्ति रूप सिद्धि को ही प्राप्त होगा।

गीता के ९ वें अध्याय में भी यही कहा गया है—

यत्करोषि यदश्नासि यद्ददासि जुहोषि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।
शुभाशुभ फलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोग युक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।

हे अर्जुन! तुम जो कुछ भी खाते हो वह मेरे लिए खाओ, जो यज्ञादि कर्म करते हो तथा जो दान करते हो वह मेरी प्रसन्नता के लिए ही करो। जो कुछ तपश्चर्या आदि करते हो वह मेरे लिए ही करो। इस प्रकार भगवदर्थ कर्म करने से तू शुभाशुभ कर्म बंधन से मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त हुआ तू मुझ परमेश्वर को ही प्राप्त हो जायगा।

जो साधक अपने सभी कर्म अपने इष्टदेव को अर्पित कर देता है तो वे कर्म उसके लिए शुभाशुभ फल के दाता नहीं बनते प्रत्युत उसे जन्म-मरण के चक्र से छुड़ा देते हैं।

इस प्रकार हे पुत्र! मन में मन, बुद्धि में बुद्धि, चित्त में चित्त और अहंकार में अहंकार का विलय हो सकता है। क्योंकि जहां पर जिन वस्तुओं का साधर्म्य होता है वे दोनों वस्तुएँ मिल सकती है जबकि विधर्मी वस्तुएं नहीं मिला करतीं। जल में जल मिल सकता है, दूध में दूध मिल सकता है, दूध में जल भी मिल सकता है। क्योंकि जल उसमें पहले से विद्यमान है, किन्तु जल में रेत नहीं मिल सकता।

साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह साधन-परायण रहे। अपनी नियमानुवर्तिता का दृढ़ता से पालन करें। अपने साधन एवं साध्य में पूर्ण श्रद्धा एवं उत्साह रखे साधना में उकताये नहीं। योग की वर्णाक्षरी मन की एकाग्रता से आरम्भ होती है। मन में एकाग्रता का उदय तभी होना सम्भव है, जब उसमें सतोगुण की वृद्धि हो जायगी। इसके आवश्यक है कि साधक योगाङ्गों का दृढ़ता पूर्वक पालन करें। शीघ्रातिशीघ्र मन की एकाग्रता चाहने वाले साधकों के लिए वीतराग पुरुषों का ध्यान करना विशेष लाभदायक है।

अपने इस उपदेश के साथ ही योगाचार्य जी ने आज के सत्सङ्ग को विश्राम दिया।

यौगिक प्रश्नोत्तरी

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

आश्रम में शुद्ध वातावरण था। प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में इधर-उधर से सत्संगी लोग आकर अपने अभ्यास में लगे हुये थे। कुछ योग शिक्षक साधक समुदाय को अपनी-अपनी कक्षाओं में योग शिक्षा दे रहे थे। ध्यानाभ्यासी लोग अपने मन को ध्यानाभ्यास में लगा कर लीनता प्राप्त कर रहे थे। इस प्रकार के वातावरण में थोड़ी ही देर के बाद श्री आनन्दकन्द प्रभुजी की आरती का समय आया। सभी साधक समुदाय गद्‌गद् कण्ठ से आरती का उच्चारण करने लगा। आकाश तल पर ध्वनि निनादित हो उठी।

''चरणार विन्दं गोविन्दर नमामि।
गुरुदेव शरणं गुरेदेव नमामि।।''

श्री प्रभुजी की आरती जय-ध्वनि के साथ सम्पन्न हुयी। साधक समुदाय यथा स्थान अपने अपने आसनों पर बैठ गया। कुछ जिज्ञासु साधकों के मन में तीव्रतम् जिज्ञासा की भावना मन में उठी हुयी थी। वे लोग अपनी शंका निवृत्ति के लिये कुछ प्रश्न पूछना चाहते थे।

आकारां रेंगतेर्गंत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्र वक्त्र विकारैश्च जायते अन्तःगतं मनः।।

के सिद्धान्तानुसार श्री योगाचार्य जी ने साधकों के मनो भावों को समझ लिया। और बड़ी गंभीर मुद्रा में कहने लगे भाई तुम्हारे मनों के अन्दर मुझे कुछ जिज्ञासा दिखलायी दे रही हैं। यदि तुम कुछ पूछना चाहते हो तो पूछो। तुम्हारे मनोभिलषित भावों को शास्त्रीय सिद्धान्तानुसार समझाने का प्रयत्न करेंगे। श्री योगाचार्य जी के ऐसा आदेश देने के बाद एक जिज्ञासु साधक ने प्रश्न किया :

हे प्रभो आप कृपा करके यह बतला दीजिये कि योग किसको कहते हैं? ताकि आप के उत्तर को समझकर हम सही रूप से योगानुगामी बन जायें।

उत्तर : हे पुत्र सुनो चित्त वृत्ति निरोध को योग कहते हैं। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार 'चित्तवृत्तिनाँ नितरांरोधोस योगः।' अर्थात् चित्त वृत्तियों को समूलोन्मूलन ही योग कहलाता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! जब चित्त वृत्तियों का समूलोन्मूलन हो जायेगा तब साधक की क्या स्थिती होगी, और चित्तवृत्तियों का आत्या से क्या सम्बन्ध है यह बात भी खोलकर स्पष्टीकरण के साथ समझा दीजिये।

उत्तर : हे पुत्र! सुनो आत्मा एक शुद्ध निर्मल ज्योति है। जिसमें कभी कोई विकार नहीं। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम- क्लेद्यो शोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थारणुर चलोऽयं सनातनः।।

अर्थात् आत्मा बिल्कुल अछेद्य अभेद्य अचल अविकारी है। केवल मात्र बौद्धेय ज्ञान के द्वारा ही यह सुखी दुःखी दिखलायी देता है। वस्तुतः स्वयं तो यह बिल्कुल अविकारी है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! कृपा करके यह बात समझाइये कि बुद्धि और आत्मा का क्या सम्बन्ध है?

उत्तर : हे पुत्र! इस बात को तुम इस प्रकार से समझ लो। आत्मा एक विकार रहित निर्मल ज्योति है और बुद्धि जड़ है। आत्मा का तेज जड़ बुद्धि पर पड़ा तो वह चेतन हो उठी। चेतन हो जाने के बाद जड़ बुद्धि ने अपना प्रभाव आत्मा पर डाला। अर्थांत् बुद्धि ने अपना स्वरूप आत्मा को दिखलाया। उसका प्रभाव पड़ जाने से आत्मा अपने आपको सुखी और दुःखी अनुभव करने लगा। इसीलिये आजकल की परिभाषा में आत्मा ही बुद्धि बोधात्मा कहा जाता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! बुद्धि बोधात्मा का क्या अर्थ है? इसका तो स्पष्ट अर्थ यही हुआ कि आत्मा पर बुद्धि का प्रभाव पड़ गया तब तो सीधे शब्दों में विकारी बन गया?

उत्तर : हे पुत्र! ऐसी बात नहीं है। विकारी तो नहीं बन गया किन्तु विकारी जैसा भाषित होने लगा। इस बात को तुम इस प्रकार से समझो- जैसे बिजली की रोशनी हरे बल्ब के अन्दर हरी, पीले के अन्दर पीली, लाल के अन्दर लाल और काले के अन्दर काली दिखलायी देती है। इसी प्रकार आत्मा का निर्मल प्रकाश भी त्रिगुणात्मका जड़ बुद्धि के अन्दर जैसा ही भाषित होने लग गया। इसी कारण से संसार में जन्म लेने वाले व्यक्तियों को सुख-दुःखों को अनुभूति होती रहती है। यही जन्म और मरण का कारण है। इसी कारण से भगवान पतंजलि देव ने— **'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः।'** कह करके चित्त वृत्तियों के नितराम रोध को योग बतलाया है।

प्रश्न : हे गुरुदेव जब चित्त वृत्तियां तो रहेंगी ही नहीं? तब आत्मा की क्या स्थिति होगी, आत्मा कैसे स्वरूप में रहेगा। अब तो आत्मा बुद्धि बोधात्मा है इसलिये सुख दुःख आदियों का अनुभव करता रहता है। जब चित्त वृत्तियें बिल्कुल होंगी ही नहीं उस हालत में आत्मा सुख-दुःख का उपभोक्ता रहेगा नहीं। तो इसका क्या स्वरूप कहलायेगा? कृपा करके इस बात को स्पष्टीकरण के साथ आप मुझे समझा दीजिये।

उत्तर : हे पुत्र! तुम्हारा यह प्रश्न बिल्कुल ठीक एवं शास्त्र सम्मत है। और इसका उत्तर स्वयं भगवान पतंजलिदेव जी ने ही योग दर्शन के तीसरे सूत्र में बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में दे दिया है। वह इस प्रकार से है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

अर्थात् तब दृष्टा जीवात्मा अपने शुद्ध स्वरूप के अन्दर प्रतिष्ठित हो जाया करता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! स्वरूप प्रतिष्ठा कैसी होती है? कृपा करके यह बात और मुझे समझा दीजिये। क्या स्वरूप प्रतिष्ठा हो जाने के बाद आत्मा को सुख-दुःख आदि का कोई अनुभव नहीं होता?

उत्तर : हां पुत्र! स्वरूप स्थिति का नाम निरोध समाधि है। उसी को योग कहा गया है। उपनिषदकार इसके विषय में खोल कर स्पष्ट लिखते हैं कि—

''समाधि समतावस्था जीवात्मा
परमात्मनः समावैंधियोगः।''

अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था को ही योग कहा गया है और वही निरोध समाधि कहलाती है। निरोध समाधि में पहुँच जाने पर आत्मा बिल्कुल शुद्ध स्थिती में आ जाया करता है वहां तक मन और बुद्धि की कोई पहुँच नहीं रहती। निरोध समाधि की स्थिति को अनुभवी सन्तों ने इस प्रकार कहा है—

मन बुद्धि से है परे कोई बिरला जाने संत।

और इसके साथ-साथ **''तदा दृष्टुः स्वरूपे अवस्थानं''** इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुये श्री व्यास देव महाराज ने भी अपने शब्दों में पूर्ण रूपेण व्यक्त कर दिया है—

स्वरूप प्रतिष्ठा तदानीं चित्त शक्तिर्यथा कैवल्ये, व्युत्थान चित्ते तु सति तथाऽपि भवन्ति न तथा।

अर्थात् स्वरूप प्रतिष्ठा का अर्थ है जैसी चेतन शक्ति मोक्ष में हुआ करती है। यद्यपि आत्मा संसार में जन्म और मरण के दुःखों का अनुभव करता हुआ भी स्वरूप प्रतिष्ठा के रूप में तो बिल्कुल विकार रहित शुद्ध बुद्ध रूप है ही किन्तु वैसा होता हुआ होने पर भी क्योंकि यहां पर यह बुद्धि बोधात्मा है इसलिये वैसा नहीं है। स्वरूप प्रतिष्ठा तो वही कहलायगी जिसमें पहुँच कर बौद्धेय बोध बिल्कुल-बिल्कुल समाप्त हो जाते हैं। और आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में रह जाता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! इसका तो अर्थ यह हुआ निर्बीज अर्थांत् निरोध समाधि ही समाधि हैं इसके अतिरिक्त मैं अपने गुरु-भाई बहिनों के समुदाय में यह देखता हूँ कि वे लोग विभिन्न प्रकार की अपनी ध्यान स्थितियों को सुनाते और बतलाते हैं। ऐसी हालत में देखने और सुनने का जो विषय है वह तो बुद्धि का ही ज्ञान हुआ। इसलिये अच्छे-अच्छे ध्यानी साधक को भी जो ध्यानानुभूतियें होती रहती हैं वे सब योग नहीं है?

उत्तर : हे पुत्र तुम्हारी बात तो ठीक है। तुम्हारा प्रश्न बिल्कुल ठीक है किन्तु **''योगश्चिंत वृत्ति निरोधः''** इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुये भगवान व्यासदेव जी ने एक संकेत दिया है वह इस प्रकार है—

सर्वं शब्दा ग्रहणात् संप्रज्ञातोऽपि योग इत्याऽ-ऽख्यायते, चित्तं प्राख्या प्रवृति स्थिति शीलत्वात् त्रिगुणम् प्राख्या रूपं हि चित्तसत्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्ट मैश्वर्य्य विषय प्रियं भवति,

तदेव तमसाऽनु विद्धमधर्माज्ञाना वैराग्यानैश्वर्य्योपगं भवति, तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रघोतभानमनु विद्धं रजो मात्रया धर्मज्ञान वैराग्यैश्वर्य्योपगं भवति, तदेव रजोलेशम लापेतं स्वरूप प्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्य ताख्याति मात्रं धर्ममेघध्यानो पगं भवति, वप्परं प्रसङ्ख्यान भित्या चक्षते ध्यायिनः चित्तशक्ति2 परिणामिन्य प्रतिसङ्क्रमा दर्शित विषया शुद्धा चानन्ता च सत्त्व गुणात्मिका चेयमतो विपरीता विवेक ख्यातिरितिः अतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणाद्धि, तदवस्थं चित्तं संस्कारोपगं भःति स निर्बीजः समाधिः, न तत्र किञ्चित् सम्प्रज्ञायत इत्यसम्प्रज्ञातः, द्विविधः स योगश्चित्त वृत्ति निरोध इति।

अर्थात् क्योंकि 'योगशिचित्त वृत्ति निरोधः' इस सूत्र में 'योगः सर्व चित्त वृत्ति निरोधः' ऐसा नहीं कहा गया इसलिये प्रम्प्रज्ञात समाधि को भी योग ही कहा गया है। क्योंकि प्रख्या प्रवृत्ति शील होने से चित्त त्रिगुणात्मक है। एक नियम की बात चलती है और वह यह कि हमारे चित्त में जिस समय जो गुण प्रधान होता है उसके साथ दो अन्य गुण उस के अधीन काम करने वाले उसके सहचारी रहते हैं जिस समय चित्त सतोगुण प्रधान और रजोगुण एवं तमोगुण उसके सहचारी रहते हैं तब वह चित्त ऐश्वर्य को चाहने वाला होता है।

और उसके बाद उस ही चित्त में जब तमोगुण की प्रधानता आ जाती है तब वह चित्त अहम्, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य की ओर झुका रहता है। और जब वह चित्त प्रक्षीण मोहावरण हो जाता है, केवल मात्र बहुत थोड़ा सा रजो मात्रा से अनविद्ध रहता है तब वह चित्त, धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य का चाहने वाला होता है। और वही चित्त रजोगुण की मात्रा से बिल्कुल छूट आया करता है, तब स्वरूप प्रतिष्ठ धर्ममेघ समाधि वाला कहलाया करता है। इसे ध्यानी लोग परम ज्ञान कहते हैं। वैसे नियमानुसार चित्त् शक्ति अर्थात् जीवात्मा बिल्कुल अपरिमाणनीय है। इसके ऊपर किसी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। शुद्ध और अनन्त है किन्तु बुद्धि का प्रभाव पड़ जाने से वह दर्शित विषया कलाती है और जो यह विवेकख्याति है वह भी सतोत्वगुणात्मिका होने के कारण हेया है। इसलिये उसमें भी विरक्त हुआ साधक गुणात्मिका होने के नाते से उसको भी छोड़ देता है। जब चित्त उस ख्याति को भी छोड़ देता है तब उस चित्त मैं 'मैं हूँ' ? इस प्रकार की वृत्ति शेष रह जाती है। यह भी वृत्ति समाप्त हो जाने पर साधक निर्बीज समाधि तक पहुँच जाता है। इस समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इसलिये सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दो प्रकार से योग का वर्णन किया है। और जहां से भगवान पतंजलि देव ने 'अथ योगानुशासनम्' कह कर योग दर्शन का आरम्भ किया है। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुये भगवान व्यास देव ने ये पंक्तियां लिखी हैं। उसमें चित्त किन-किन अवस्थाओं में रहता है यह समझाया है। वह इस प्रकार है–

योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यं, योगः= समाधिः, स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः,

क्षिप्तं, मूढं, विक्षिप्तम, एकाग्रं, निरुद्धम् इति चित्त भूमयः तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनी भूतः समाधिर्न योग पक्षे वर्त्तते,

यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योत यति, क्षिणोति च क्लेशान, कर्म बन्धनानि श्लयति, निरोधमभिमुखं करोति, स सम्प्रज्ञातो योग इत्या ख्यायते,

स च वितकीनुशतो, विचारानुगत आनन्दानुगतोऽ-स्मितानगत, इत्युपाष्टितात्प्रवेदिष्यामः, सर्वं वृत्तिनिरोधे त्वसम्प्रज्ञातः समाधिः।

अर्थात् योगानुशासन शब्द का अर्थ शास्त्र में प्रवेश करने के अधिकार को कहा गया है। योग समाधि कह करके योग शब्द की अभिव्यक्ति की है वह समाधि सर्वभौम चित्त का धर्म है। क्षिप्तमूल विक्षिप्त एकाग्र और निरुद्ध ये चित्त की भूमियें कहलाती हैं और वहां पर विक्षिप्त चित्त में, क्योंकि विक्षेप प्रधान है और समाधि गौण है, इसलिये विक्षे-क्षोप-सर्जनी समाधि को योग पक्ष में नहीं माना गया है। और जो समाधि चित्त की एकग्रावस्था को प्राप्त होता है जिमसें पहुँचकर साधक वस्तु तत्व को यथार्थता को जान लेता है और क्लेश बन्धन क्षय हो जाते हैं। कम कलाप कमजोर पड़ जाता है और चित्त को निरोध की ओर ले जाता है वह समाधि सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। अम्प्रज्ञात योग की चार श्रेणी होती है- (१) वितर्कानुगम, (२) विचारानुगम, (३) आनन्दानुगम और (४) आस्मितानुगम। ये चारों श्रेणी सम्प्रज्ञात समाधि की हैं और निर्बीज में जाकर चित्त का समूलोन्मूलन हो पाता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! आपने सम्प्रज्ञात योग की चार श्रेणियाँ बतलायी हैं वे तो मैं बाद में समझ लूंगा किन्तु पहले मुझे सार्वभौम चित्त किन-किन भूमिकाओं में किस-किस प्रकार से रहता है? यह बात पूरी तरह स्पष्टीकरण के साथ समझा दीजिए। जिससे मैं भली प्रकार समझ जाऊँ कि चित्त अपनी-अपनी भूमियों में किस प्रकार से रहा करता है और बाद में निरोध और निर्बीज स्थिति में चित्त की क्या स्थिति होती है।

उत्तर : हे पुत्र! इस बात को तुम इस प्रकार से समझ लो। पहले भी तुम्हें सनझाया था कि प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थितिशील होने से चित्त त्रिगुणात्मक है। देखो जहां पर जिस गुण की प्रधानता हो जाती है वहां पर अन्य दो गुण उस प्रमुख चित्त का अनुगमन करते हैं। जैसे- भगवान व्यास देव ने संसार के सारे प्राणियों को उपरोक्त पांच भूमिकाओं में बांट दिया है। इनमें से मूढ़ावस्था के प्राणी वे कहलाते हैं जिनमें तमोगुण की प्रधानता होती और रजोगुण एवं सतोगुण की प्रधानता होती और रजोगुण एवं सतोगुण गौण रूप से रहा करते हैं। ऐसे प्राणी अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य को चाहने वाले गधे, घोड़े, खच्चर आदि प्राणियों की तरह मूढ़पन के प्राणी वे हैं जिनमें रजोगुण प्रधान हो जाता है और तमोगुण और सतोगुण गौण रूप से काम किया करते हैं। ऐसे प्राणी परलोक प्रवृत्ति को नहीं समझते। राम, कृष्ण, विष्णु, शिव आदि को नहीं मानते। उन लोगों का सिद्धांत होता है कि—

''यावत जीवेत् सुखं जीवेत्
ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत,
भस्मीभूतस्य देहस्य
पुनरागमनं कुतः।''

अर्थात् मनुष्य संसार में जिन्दा रहे तब तक ऐश आराम को भोगे। कर्जा लेकर घी को पिये क्योंकि अन्त में शरीर जलकर भस्म हो जायेगा इसका पुनगमन होगा ही नहीं। ऐसे प्राणी रजोगुण प्रधान क्षिप्तावस्था के प्राणी कहलाते हैं।

तीसरे प्राणी वे हैं जो विक्षिप्तावस्था के प्राणी कहलाते हैं। इन लोगों में सतोगुण प्रधान हो जाता है। रजोगुण और तमोगुण गौण हो जाते हैं। परलोक को मानते हैं। श्रीराम, कृष्ण, विष्णु, शिव आदि देवों के अन्दर पूरी-पूरी श्रद्धा रखते हैं। किन्तु रास्ता न मिलने पर विवश रहते हैं। यही लोग अपने मुख से बार-बार संकीर्तन किया करते हैं और कहा करते हैं कि—

राम नाम रटते रहो, जब लगि घट में प्राण।
कबहुँ तो दीन दयाल के, भनक परेगी कान।।

हम लोगों में यह विश्वास अवश्य होता है कि ईश्वर का साक्षात्कार हो सकता है। भगवान राम, कृष्ण, विष्णु, शिव आदि के दर्शन हो सकते हैं किन्तु कोई उपाय न मिलने पर असमर्थ रहते हैं। इससे आगे चौथे प्राणी एकाग्रावस्था के कहलाया करते हैं। एकाग्रावस्था के प्राणियों में सतोगुण चमक उठता है। मोहावरण क्षीण हो जाता है। पांचों ज्ञानेन्द्रियें अन्तर्मुखता को धारण कर लेती हैं। और उस सतोगुण के दिव्य प्रकाश के अन्दर श्रीराम, श्रीकृष्ण श्री भगवान सदाशिव और इनके अतिरिक्त अन्य सभी देवी देवताओं के दर्शन भी होने लगते हैं। धीरे-धीरे ये साधक ऋम्भरा प्रज्ञा तक पहुँच जाते हैं और इनकी अनुभूतियों सभी सत्य होने लग जाती हैं। इससे आगे पांचवी अवस्था निरोधावस्था है। जिसमें जाकर के चित्त केवल मात्र अस्मि प्रत्यय रूप से ही शेष रहता है। वह भी निर्बीज समाधि में पहुँच कर बिल्कुल निरुद्ध हो जाता है। इस निर्बीज समाधि में भी आत्मा स्वरूप प्रतिष्ठ हो पाता है। इस स्थिति में चित्त वृत्ति निरोध को प्राप्त करके 'योगाश्चित्त वृत्ति निरोध:' इस सूत्र के यथार्थ अर्थ का ज्ञाता बन जाता है। इस ही निर्बीज समाधि को प्राप्त करके योगी अपने आपको समतावस्था में देखता है और प्राप्तव्य को पाकर कृतकृत्य हो जाया करता है।

शिष्य :— हे गुरुदेव आपके उपदेशामृत को सुनकर मैंने योग शब्द के अर्थ को भली प्रकार समझ लिया है। आशा है आपकी पूर्ण कृपा से मैं अवश्य ही योगानुगामी बन जाऊँगा।

यौगिक प्रश्नोत्तरी

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

आश्रम का शुद्ध वातावरण है। योगाभ्यासी लोग उठ चुके हैं। ब्रह्मचारी वर्ग अपनी-अपनी हठयोग की साधना में नियमानुसार लग चुके हैं। आश्रम में ठहरा हुआ गृहस्थ समुदाय भी अपने-अपने नित्य कृत्यों से निपट करके श्री गुरुदेव जी की आज्ञानुसार अपनी-अपनी आसन, बन्ध, मुद्रायें आदि का अभ्यास करके जैसा जिसको आदेश था अपने-अपने ध्यानाभ्यास में बैठ गये। थोड़ी देर के बाद सभी नैत्यिक साधनाओं से निवृत्त हो गये। श्री आनन्दकन्द प्रभुजी की आरती पूजन एवं गीता पाठ आदि के बाद नैत्यिक सत्संग का कार्य आरम्भ हो गया। उनमें से एक जिज्ञासु ने आकर प्रश्न किया—

प्रश्न : हे गुरुदेव! कल के सत्संग में आपने सर्व चित्त वृत्ति निरोध को योग समझाया था और उसके साथ ही यह भी कहा था क्योंकि सूत्र में भगवान पतञ्जलि देव ने सर्व शबद का ग्रहण नहीं किया है इसलिये सम्प्रज्ञात समाधि जिसमें बराबर अनुभूतियें रहा करती है वह भी योग ही है। सो आप कृपा करके मुझे सम्प्रज्ञात योग समझाइये। वह कितने प्रकार का होता है और साधक निरोध तक कैसे पहुँच पाता है?

उत्तर : हे पुत्र! सुनो भगवान पतञ्जलि देव ने सम्प्रज्ञात समाधि का इस प्रकार वर्णन किया है :—

वितर्कं विचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः।

अर्थात् वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मितानुगत होने से सम्प्रज्ञात योग के चार भेद हैं जिनका वर्णन व्यासदेव जी महाराज अपने भाष्य में निम्नांकित पंक्तियों में करते हैं :—

वितर्कः=चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः, सूक्ष्मो= विचारः। आनन्दोः=ह्लादः। एकात्मिका। संविदस्मिता। तत्र प्रथमः चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः। द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः। तृतीयो विचार-विकलः सानन्दः। चतुर्थस्तद्विकलः अस्मितामात्र इति। सर्वं एते सालम्बनाः समाधयः।

इनमें से वितर्कानुगत समाधि उसको कहते हैं जिसमें चित्त को ठहराने के लिये स्थूल विषयों का अवलम्ब लिया जाता है। जैसे अग्नि, जल, वायु, आकाशादि स्थूल महाभूत हैं और विचारनुगत समाधि में स्थूल महाभूतों से होने वाली सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों से होने वाला साक्षात्कार और आनन्दानुगत समाधि में योगी की अह्लादात्मिक स्थिति और उसके बाद में अस्मितानुगत योग में केवल मात्र अस्मि प्रत्ययक ा आभास होता रहता है। सम्प्रज्ञात समाधिजन्य और योग के भेदों की स्थितियाँ योगी को स्वतः ही सिद्ध होती चली जाया करती हैं। बात तो केवल मात्र एक है कि मनुष्य को अपने अभ्यास से पीछे नहीं हटना चाहिये। उसके बाद **'योगिनों योग एवं उपाध्यायः'** अर्थात् योगी का योग ही साधक का गुरु बन जाया करता है। वैसे वह सर्व शक्तिमान आदि गुरु परमात्मा घट-घट वासी अन्तर्यामी एवं प्राणी मात्र का उत्प्रेरक है। साधक अपने अभ्यास के द्वारा जिस भूमिका को पार कर जाता है, उसके बाद उस परम गुरु परमात्मा की कृपा से उससे आगे की दूसरी भूमिका उसके सामने प्रकट हो जाया करती है। पूर्व भूमिका के दृश्य फिर उसके सामने नहीं आते। उदाहरण के तौर पर एक योगी जब वितर्कानुगत समाधि का अभ्यास करता है और निरन्तर अभ्यास के बल से उस भूमिका में लब्धस्थितिक हो जाता है तो उसके अभ्यास में स्वतः ही आगे की भूमिका के दृश्य आने लगते हैं और जब आगे की भूमिका के दृश्य आने लगते हैं तो उससे पीछे की भूमिका के दृश्य आने बन्द हो जाया करते हैं। इसी कारण से श्री व्यासदेव जी महाराज ने अपनी पंक्तियों में इसका बिल्कुल स्पष्टीकरण कर दिया है। जैसे वितर्क विकलः सविचारः और उसके बाद विचार विकलः सानन्दः अर्थात् जिस समय योगी वितर्कानुगत समाधि में जय प्राप्त कर लेगा तो उसका अभ्यास समाप्त हो जाने के बाद चिर विचारानुगम योग में वितर्कानुगम के दृश्य नहीं आयेंगे। और जब द्वितीय श्रेणी विचारानुगम को अपने अभ्यास के बल से जीत लेगा तो स्वतः ही आनन्दानुगत समाधि का आरम्भ हो जायेगा और उसी आनन्दानुगत समाधि से फिर दोबारा विचारानुगत के दृश्य नहीं आयेंगे। ठीक इसी प्रकार से आनन्दानुगत और अस्मितानुगत की बात भी है। ज्यों-ज्यों योगी उत्तर भूमिकाओं में जय प्राप्त कर लेता है त्यों-त्यों, उसको निम्न श्रेणी की भूमिकाओं के अभ्यास की आवश्यकता नहीं

रहती और उस परम गुरु परमात्मा की कृपा से उत्तरोत्तर आगे ही बढ़ता चला जाता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव आप कृपा करके यह बतलाइये कि साधक को योग योग किस प्रकार से प्राप्त होता है? क्या योगाभ्यासी की अपनी शक्ति पर यह सब साधना आधारित है या कोई और भी उपाय है? मैंने कई जगह पर ऐसा देखा है कि कितने ही साधकों को तो जन्म लेने मात्र से ही योग ज्ञान हो जाता है। और कितने ही ऐसे है कि काफी प्रयत्न करने के बाद भी उनको स्थिति उपलब्ध नहीं हो पाती।

उत्तर : हां पुत्र! ऐसा हुआ ही करता है जो जन्म जन्मान्तर के अभ्यासी हैं चाहे वे अनन्तकाल तक स्वर्ग में वास करके आये हों उनकी जन्म ग्रहण करते ही अपने जन्म जन्मान्तर के किये अभ्यास की स्मृति कायम हो जाती है और बिना किसी के प्रयास ही वे लोग लब्धभूमिक हो जाया करते हैं। भगवान पतञ्जलिदेव योग दर्शन में स्वयं ही इस बात का स्पष्टीकरण अपने शब्दों में करते हैं–

भव प्रत्ययो विदेह– प्रकृति लयानाम्।

अर्थात् विदेह एवं प्रकृतिलीन योगियों को जन्म लेने मात्र से ही योग ज्ञान की प्रतीति हो जाया करती है।

इस सूत्र के अनुसार संसार में जन्म लेने वाले प्राणियों को इस योग की प्रतीति दो ही प्रकार से होती है उनमें पहले प्राणी वे हैं जो अपने जन्म–जन्मान्तर के अभ्यास से सम्प्रज्ञात योग की वितर्क और विचारानुगत समाधि में पूर्णत: प्रविष्ट हो चुके हैं और बाद में अभी तक निर्बीज समाधि तक नहीं पहुँच पाये थे अभी उनको विवेक ख्याति नहीं हुई थी। इतनी अवस्था में ही उनका देहपात हो गया। ऐसे योगी दो प्रकार के होते हैं—

(१) विदेह और (२) प्रकृति लीन।

१. विदेह :— वे कहलाते हैं जो वितर्क समाधि द्वारा स्थूल महाभूतों का और उनके विशेषों का पूर्ण साक्षात्कार कर चुके हैं इसलिये वे शरीर की असलियत को समझ करके देहाभिमान से शून्य हो चुके हैं और इतनी साधना के बाद उनका शरीर छूट गया और वे सम्प्रज्ञात योग की आगे की सीढ़ियों तक नहीं पहुँच सके अत: वे लोग विदेह कहलाते हैं और देव कोटि में माने जाते हैं।

२. प्रकृतिलीन :— वे योगी हैं जो स्थूल महाभूतों और उनके गुणों का पूर्ण साक्षात्कार करते हुये निर्विचार समापत्ति में पंच तन्मात्र अहङ्कार और महत्तत्व और प्रकृति का साक्षात्कार कर चुके हैं वे अभी वो प्रकृति के इन सूक्ष्म तत्वों का साक्षात्कार करते हुये इन्हीं में लीन रहे हैं। आगे की भूमिकाओं को तय नहीं कर पाये अचानक देहपात हो गया। इसलिये ये लोग प्रकृतिलीन कहलाते हैं। ये भी प्राणी देव कोटि में माने जाते हैं इसलिये भगवान व्यासदेव जी ने इन लोगों के लिये–

विदेहानां देवानां भव प्रत्यय: तेहि स्वसंस्कार मात्रोपगेन चित्तेन कैवल्य पदमिवानुभवन्त: स्व–संस्कार विपाक तथा जातीयकमीत वाहयन्ति तथा प्रकृतिलया: साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्य पदमिवानु भवन्ति यावन्न पुनरावर्त्ततेऽधिकार वशाच्चित्तमिति। कैवल्य पदमिवानु भवन्ति।

कहकर भगवान व्यासदेव जी ने इनको मुक्ति पद में तो नहीं माना किन्तु मोक्ष जैसी स्थिति को ये लोग प्रकृतिलीन होते हुये भी मोक्ष पद जैसा अनुभव करते हैं। क्योंकि अभी इनका ग्रन्थि भेद नहीं हुआ अर्थात् विवेक ख्याति को प्राप्त नहीं हुये। इसलिये इनका चित्त साधिकार है और अधिकार वश इन लोगों का संसार में जन्म होता है क्योंकि पिछले जन्म जन्मान्तरों में इनकी योग में ऊँची प्रगति रही थी इसलिये बहुत लम्बे समय तक ये विदेह, प्रकृति लीन रहते हुये भी अपने आपको मुक्त आत्माओं की तरह अनुभव करते रहे थे। बुद्धि के आल्हाद, आमोद प्रमोद आदि विशेष भावों में लीन हुये अपने आपको आनन्द मग्न मोक्ष रूप देखते रहे थे किन्तु विवेक ज्ञान के हुये बिना इनका चित्त साधिकार है इसलिए इन्हें संसार में दुबारा जन्म लेना पड़ता है और जन्म से ही इनको पूर्व जन्म जन्मान्तरों में जो अभ्यास किया था उसकी प्रतीति होने लगती है और उस स्थिति को पा करके जल्दी ही अपने पूर्ण लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। इन लोगों की कुछ हानि नहीं हुई क्योंकि ये लोग विदेहावस्था में व प्रकृतिलीनावस्था में परमानन्द में रहे तथा जन्म लेने पर अनेक जन्मों में किया हुआ अभ्यास सामने आया और पुन: उसी योग समाधि में प्रवृत्त हो गये। इसी प्रकार का प्रश्न गीता के छठवें अध्याय में भगवान श्री कृष्ण जी से अर्जुन ने किया—

अयति: श्रद्धयापेतो, योगाच्चलित मानस:।
अप्राप्य योग संसिद्धि, कां गति कृष्ण गच्छति।।
काच्चिन्नोभय विभ्रष्ट– श्छिन्ना भ्रमिते नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो, विमूढ़ो ब्रह्मण: पथि।
एतन्मे संशय कृष्ण, छेत्तुमर्हस्य शेषत:।
त्वदन्य: संशयस्यास्य, छेत्ता न ह्युपपद्यते।।

— गीता ६–३७/३८/३९

अर्थात् अर्जुन भगवान श्रीकृष्ण जी से प्रश्न करता है कि हे श्रीकृष्ण! जो व्यक्ति श्रद्धा से युक्त है और अपने आपको काछ में नहीं रख सका है और योगाभ्यास करते–करते

जिसका मन विचलित हो गया है वह योग सिद्धि को न पा करके किस गति का प्राप्त होता है? कदाचित् उभय भ्रष्ट हो करके फटे हुये बादल की तरह से नष्ट भ्रष्ट तो नहीं हो जाता, क्योंकि अभी उसने अपने स्वरूप में स्थिति नहीं पायी और ब्रह्मज्ञान को नहीं पा सका। मेरे इस संशय को नाश करने वाला आपके अतिरिक्त है श्रीकृष्ण दूसरा कोई नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुये भगवान श्रीकृष्ण जी ने कहा—

पार्थ नैवेह नामुत्र,
विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्-
दुर्गतिमं तात उच्छति।।
प्राप्य पुण्यकृतांलोकानु-
षित्वा शाश्वती समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे,
योगभ्रष्टोऽभिजायते।।
अथवा योगिनामेव
कुले, भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके,
जन्म यदीदृशम्।।
तत्र तं बुद्धिसंयोगं,
लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः,
संसिद्धौ कुरुनन्दनः।।
पूर्याभ्यासेन तेनैव,
ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य,
शब्द ब्रह्मातिं वर्तते।।
प्रयत्नाद्यत मानस्तु,
योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्म संसिद्धस्ततो,
याति परां गतिम्।।

— गीता ६-४०/४१/४२/४३/४४/४५

भगवान श्री कृष्ण जी उत्तर देते हैं कि हे अर्जुन! ऐसे पुण्यात्माओं का इस लोक व परलोक में कहीं भी पतन नहीं होता। कोई भी शुभ कर्म करने वाला दुर्गति को प्राप्त नहीं हो सकता। वे लोग पवित्र पुण्यात्माओं के लोकों को प्राप्त होकर बहुत समय तक वहां रहकर पुनः पवित्र श्रीमानों के घरों में ही जन्म ग्रहण करते हैं या बुद्धिमानों के घरों में ही जन्म ग्रहण करते हैं या बुद्धिमान योगियों के घरों में ही जन्म होता है। इस मनुष्य लोक में इस प्रकार का जन्म ग्रहण करना भी अत्यन्त दुर्लभ है और ऐसा जन्म हो जाने के बाद उन योगियों को अपना पौर्व दैहिक बुद्धि संयोग प्राप्त होता है और उस बुद्धि संयोग को पा करके वे लोग पुनः सिद्धि के लिए प्रयत्न करते हैं क्योंकि पूर्व जन्मों में उन्होंने इस प्रकार का योगाभ्यास किया था इसी कारण से विवश हो करके उनको इस मार्ग में लगना पड़ता है। योग मार्ग का जिज्ञासु भी कर्म काण्ड के विषय से ऊँचा उठ जाता है और प्रयत्न पूर्वक यत्न करता हुआ अपने सब पापों को धो करके अनेक जन्मों के प्रयत्न से परमगति को पा लेता है। इसीलिये भगवान पतञ्जलि जी की आज्ञानुसार जो लोग सम्प्रज्ञात समाधि में ही किसी प्रकार विफल हो जाते हैं और निर्बीज समाधि को प्राप्त नहीं हो पाते हैं उनको जन्म से ही इस योग की प्रतीति होती है और वे अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं।

यौगिक प्रश्नोत्तरी

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

प्रात:कालीन बेला में ध्यानाभ्यास के पश्चात् आश्रम के सभी अन्त:वासी ब्रह्मचारी जिनमें महिला और पुरुष दोनों ही थे, अपने श्रद्धास्पद गुरुदेव जी के आने से पूर्व ही आ आकर अपने-अपने स्थान पर बैठ गये। गुरुदेव जी के पीठासीन होते ही सभी ने क्रमश: उनके चरण-कमलों का वन्दन किया और सभी ने सामूहिक रूप से जय गुरुदेव के घोष से नभोमण्डत को निनादित करते हुए अपने-अपने आसनों पर अपना स्थान ग्रहण कर लिया। सबके शान्त चित्त यथा स्थान बैठ जाने पर गुरुदेव जी ने सभी शिष्यों पर अपनी कृपापूर्ण दृष्टि डाली और सामूहिक रूप में सभी से कहा- बोलो क्या कोई जिज्ञासा है?

प्रश्न : विनीत-भाव से दोनों हाथ जोड़कर एक शिष्य खड़ा हुआ और कहने लगा- पूज्य गुरुदेवजी! आज हम आपसे यह जानना चाहते हैं, कि यदि कोई साधक अथवा शिष्य अपने एक गुरु के आश्रम को छोड़कर किसी अन्य आश्रम में किसी अन्य गुरु की सेवा में जाना चाहे तो क्या इसमें कोई दोष होगा?

उत्तर : आचार्य गुरुवर इस प्रश्न को सुन कर मुस्कराये और बोले- सुनो सौम्य! कुलार्णव तन्त्र में इस सम्बन्ध में एक उत्तम परामर्श इस प्रकार दिया गया है-

मधुलुब्धो यथा भृङ्गः, पुष्पात् पुष्पान्तरं।
ज्ञानलुब्धस्तथः शिष्यो, गुरो गुरवन्तरं वजेत।।

अर्थात्- जैस मधु प्राप्ति के लिए भ्रमर एक फूल से दूसरे फूल पर जाता है, वैसे ही ज्ञान-पिपासु शिष्य एक गुरु से दूसरे गुरु की सेवा में जा तो सकता है, परन्तु ऐसा करते समय पूर्व गुरु के प्रति श्रद्धा और सम्मान के उसके भाव में कोई कमी नहीं आनी चाहिये, ऐसा परिवर्तन तभी करना चाहिये, जबकि साधक शिष्य को यह अनुभव होने लगे कि गुरु उपदिष्ट साधन अपनाने पर भी मुझे अभीष्ट सिद्धि प्राप्त नहीं हुई है तथा इसके लिये मुझे अन्यत्र जाना आवश्यक है। सम्भव हो तो अपने पूर्व गुरुदेव जी से भी इसकी अनुज्ञा ले लेनीं चाहिये।

गुरुवर के इस उत्तर के पश्चात् सभी शिष्य शान्त भाव से आगे का प्रवचन सुनने के लिए उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगे। इसी समय एक अन्य शिष्य खड़ा हुआ और करबद्ध होकर कहने लगा- हे गुरुदेव हममें से अधिकांश— बहुत से साधनों को जानते हैं किन्तु उन्हें फिर भी इष्ट-सिद्धि प्राप्त नहीं होती इसका कारण क्या है?

उत्तर : गुरुदेव जी ने कहा- हे सौम्य! तुम्हारा प्रश्न ठीक ही है और भी कुछ साधकों को यह शिकायत रहती है कि वे योगांगों के ज्ञाता तो हैं, जो बताया जाता है उसे वे भली प्रकार ध्यान में बिठा भी लेते हैं, लेकिन साधन करने पर उन्हें वांछित सफलता नहीं मिलती। ऐसा क्यों होता है। गुरुदेव बोले- 'सुनो पुत्र! मुख्य रूप से यह शिकायत प्राय: ऐसे साधकों को ही रहती है, जो न तो किसी सुयोग्य आचारवान गुरु के चरणों में बैठकर उनके निर्देशन में यौगिक साधनायें करते हैं और न योगानुशासन का पालन करना चाहते हैं। न नियमित जिनकी दिनचर्या होती है और जो न दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कार सेविता दृढ़भूमि पर ही पहुँचकर अपने पैर जमा पाते हैं यानी निरन्तर और दीर्घकालीन अभ्यास में जो जुटना नहीं चाहते, उन्हें योग में इष्ट सफलता मिल ही कैसे सकती है। ऐसे साधक जो केवल पल्लवग्राही ज्ञान के आधार पर योगारूढ़ होना चाहते हैं, कभी भी अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते। सुनो सौम्य! इस विषय में योगवेत्ताओं के इस परामर्श पर विशेष ध्यान देना चाहिए—

प्रशान्त चित्ततस्य जितेनिद्रयस्य,
गुणान्वितस्यऽऽगुरु सेविनश्च।
नूनं भवेद्योग समस्त सिद्धि-
र्नान्येतरासक्त जनस्य कस्य।।

अर्थात् जो प्रशान्त चित्त, जितेन्द्रिय, गुणी एवं भली प्रकार गुरु की सेवा करने वाला होता है उसी को योग-सिद्धियाँ सुलभ होती हैं, अन्य विषयासक्तों को नहीं।

उपर्युक्त श्लोक में **'गुणान्वितस्याऽऽगुरुसेविनश्च'** शब्द है इसका आशय यही है कि बिना सद्‌गुरु के भली प्रकार सेवा किये योग साधन सिद्ध नहीं हो सकता। सद्‌गुरु की प्रसन्नता से ही आत्म-दर्शन का लाभ होता है। **'आचार्यवान्गुरुषोवेद'**

कथन से भी इसी का समर्थन किया गया है। जो गुरु वाला होता है वही आत्म-लाभ कर सकता है।

इनके अतिरिक्त सिद्धि प्राप्ति के लिये उत्साह, साहस, धैर्य, श्रद्धा और दृढ़ संकल्प भी योग-सिद्धि की सुलभता में सहायक होता है। अत: इन गुणों को साधक को धारण करने का सदैव प्रयत्न करना चाहिए तथा आहार भी योगाभ्यासियों को सदैव परमित और सात्विक ही करना चाहिए। इससे सात्विक विचार बनेगा और विचारों के सात्विक बनने से जीवन का सारा क्रिया-कलाप ही सात्विक बन जायगा।

यौगिक प्रश्नोत्तरी

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

प्रश्न : परम पूज्य श्री गुरुदेवजी! शास्त्रों में स्थान-स्थान पर श्रद्धा की महिमा गाई गई है और यह बताया गया है कि श्रद्धा के बल पर मनुष्य अपने मनोरथ को अवश्य सिद्ध कर लेता है। आप इस अबोध बालक को यह बतलाने की कृपा कीजिये कि योग में श्रद्धा का क्या स्थान है? क्या केवल श्रद्धा के अवलम्बन मात्र से ही मनुष्य योगी बन सकता है?

उत्तर : हाँ वत्स! श्रद्धा का योग से अटूट सम्बन्ध है। श्रद्धा रहित व्यक्ति योग-मार्ग में एक कदम भी नहीं चल सकता। श्रद्धा के अभाव में उसके अन्दर सतोगुण का विकास ही नहीं हो सकता और जब तक सतोगुण का विकास नहीं होगा, तब तक वह योग की अन्तर्भूमिकाओं, एकाग्रावस्था और निरुद्धावस्था को प्राप्त नहीं हो सकता। सतोगुण की दैवी-सम्पत्ति कहा गया है और उसका फल बताते हुये जगदात्मा श्रीकृष्ण ने गीता में अपने मुखारविन्द से कहा है-

दैवीसम्पद विमोक्षाय निबन्धाय आसुरी मता।

अर्थात् दैवी सम्पत्ति मनुष्य को मुक्ति दिलाने वाली होती है और आसुरी सम्पत्ति उसे संसार चक्र में बांधे रखती है। अत: योग और मोक्ष की प्राप्ति के लिये श्रद्धा ही सबसे बड़ा साधन है।

श्रद्धा की परिभाषा एवं उसका फल बताते हुये प्रात: स्मरणीय भगवान व्यासदेवजी महाराज ने अपने भाष्य में इस प्रकार लिखा है—

श्रद्धाचेतस:म्प्रसाद: सा हि कल्याणी जननीव योगिनं पाति।

अर्थात् चित्त की प्रसन्नता का नाम श्रद्धा है। वह कल्याणकारी होती है और माता की तरह योगी की रक्षा करती है।

प्रश्न : पूज्य गुरुदेव! कृपा करके इस रहस्य को खोलकर समझा दीजिये कि श्रद्धा किस प्रकार से योगी की रक्षा करती है और कैसे उसे योग-मार्ग में आगे बढ़ाती है?

उत्तर : हाँ पुत्र! सुनो— यही बात मैं विस्तारपूर्वक समझा रहा हूँ। योग-दर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव जी महाराज ने योग प्रतीति के दो प्रकार बतलाये हैं- भव प्रत्यय और उपाय प्रत्यय। इनमें विदेहावस्था को प्राप्त हुए देवताओं और प्रकृतिलीन योगियों को भव प्रत्यय हुआ करता है, अर्थात् जो पूर्व जन्म में योग साधन करते-करते शरीर बन्धन से छूटकर महाविदेहा स्थिति और प्रकृतिलय तक की स्थिति प्राप्त कर चुके हों, किन्तु कैवल्यपद की प्राप्ति होने से पूर्व ही जिनकी मृत्यु हो गई हो उन योगियों को पुन: योगीकुल में जन्म ग्रहण करना पड़ता है, तब उनको अपने पूर्वजन्म के योगाभ्यास विषयक संस्कारों के प्रभाव से अपनी स्थिति का तत्काल ज्ञान हो जाता है। वे बिना किसी प्रकार की साधना के ही निर्बीज समाधि को प्राप्त कर लेते हैं। उनकी निर्बीज समाधि उपाय जन्य नहीं है। अत: उसका नाम भव-प्रत्यय है, किन्तु सामान्य जनों को उपाय प्रत्यय से योग प्रतीति हुआ करती है अर्थात् उपाय प्रत्यय का सहारा लेकर ही वे पूर्ण योगी बन सकते हैं। उपाय प्रत्यय में श्रद्धा की गणना सर्वप्रथम की गई है। देखो- योग-दर्शन के समाधिपाद का २० वां सूत्र।

श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

अर्थातृ भव प्रत्यय से इतर दूसरे सभी साधकों को श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक क्रम से योग-सिद्ध हुआ करता है। सूत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए भगवान व्यासदेव जी महाराज अपने भाष्य में लिखते हैं—

तस्य हि श्रद्धधानस्य विवेकार्थिनी वीर्यमुपाजायते। समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरूप तिष्ठते। स्मृत्युपस्थाने प्रज्ञाविवेकोपावर्तते, येन यथावद्धस्तु जानाति।

श्रद्धावान व्यक्ति को स्वत: ही वीर्य अर्थात् साधन के प्रति उत्साह एवं बल की प्राप्ति हो जाती है। श्रद्धा और वीर्य इन दोनों का संयोग हो जाने से साधक के अन्दर स्मृति रूपस्थान हो जाता है। स्मृति रूपस्थान से उसे प्रज्ञाविवेक प्राप्त हो जाता है, जिससे वह वस्तु की यथार्थता का ज्ञाता बन जाता है।

प्रश्न : प्रभो! स्मृतिरूपस्थान का क्या अभिप्राय है? यह मैं नहीं समझ पा रहा हूँ।

उत्तर : हे पुत्र! सुनो—

अनुभूत विशयासंप्रमोष: स्मृति:।

अर्थात् अनुभव किये गये विषयों का मन में ज्यों का त्यों बना रहना, उसे कभी न भूलना और इस प्रकार जन्म-जन्मान्तर का ज्ञान बना रहना स्मृतिरूपस्थान कहलाता है।

स्मृतिरूपस्थान हो जाने से साधक को स्फुट प्रज्ञालोक की प्राप्ति हो जाती है, उसकी बुद्धि का खजाना खुल जाता है, तब उसकी बुद्धि सत्य को धारण करने वाली हो जाती है। उसकी बुद्धि में जो भी आता है वह सब सत्य ही होता हैं इस प्रकार प्रज्ञा-विवेक हो जाने से योगी पूर्ण तत्वदर्शी बन जाता है। उसकी स्थिति ऐसा बन जाती है जिसके लिये कहा गया है—

प्रज्ञाविवेकमासाद्य, न शोचति न कांक्षति।
भूमिष्ठानिव शैलस्थ:, सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति।।

अर्थात् प्रज्ञा-विवेक हो जाने से योगी न तो किसी वात के लिये शौक करता है और न किसी प्रकार की आकांक्षा ही रखता है। वह सांसारिकजनों को इस प्रकार देखता है, जैसे किसी उच्च पर्वत-शिखर पर बैठा हुआ व्यक्ति भूमि पर बैठे हुए लोगों को देखता है।

इस प्रकार श्रद्धा की उपाय प्रत्यय (साधन योग) का मूल और योगारूढ़ता का रहस्य है। श्रद्धावान व्यक्ति अपनी श्रद्धा के बल पर क्रमश: वीर्य, स्मृति एवं प्रज्ञा विवेक को प्राप्त करता हुआ सम्प्रज्ञात योग की उच्चतम स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन को यह आदेश दिया है–

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं, तत्पर: संयतेन्द्रिय:।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिं, न चिरेणाधि गच्छति।।

यौगिक प्रश्नोत्तरी

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी के सौजन्य से)

आश्रम के विशुद्धतम वातावरण में पुन: नैत्यिक सत्संग का आरम्भ जिज्ञासु समुदाय के लिए शङ्का निवृत्यार्थ श्री गुरुदेव जी की आज्ञानुसार उनके पवित्र वचनामृत को सुनकर एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया–

प्रश्न : हे गुरुदेव! आपने अपने कल के व्याख्यान में भव-प्रत्यय वाले योगियों की बात कही थी। वे लोग तो धन्य भाग हैं जो इस प्रकार का जन्म धारण करते हैं और जन्म ग्रहण करते ही उनकी प्रवृत्ति योग ध्यान की ओर बन जाती है। उनको कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। जन्म-जन्मांतर के अभ्यास वश वे लोग पूर्ण प्रारब्धोपार्जित कर्म संयोग को पाकर बिना ही किसी प्रयास के योगी बन जाते हैं, किन्तु जो लोग इस प्रकार के संस्कारी नहीं हैं उनकी क्या स्थिति होगी?

उत्तर : हे पुत्र! उनके लिये उपाय है। जिसका संकेत श्रीव्यासदेव जी ने अपने भाष्य में स्वयं कर दिया है—

उपाय प्रत्ययो योगिनां भवति।

अर्थात् वह अपने प्रयत्न से ठीक उस ही प्रकार की स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं और पतन से परे हो जाया करते हैं। भव प्रत्यय वाले योगी तो कभी-कभी प्रमाद भी कर बैठते हैं। वे लोग अपने मन में समझ बैठते हैं कि हम तो यह वस्तु बिना ही प्रयास के उपलब्ध हो रही है तो हमें विशेष प्रयास करने की आवश्यकता ही क्या है? इस धारणा को ले करके पूर्व जन्मोपार्जित पुण्य के प्रभाव से प्राप्त की हुई स्थिति को खो बैठते हैं। किन्तु जो लोग पूरे-पूरे प्रयत्न के साथ अपनी समाधि स्थिति को प्राप्त करते हैं, वह इस प्रकार का प्रमाद कभी भी नहीं करते। प्रत्युत अपने अभ्यास में निरन्तर लगे रहा करते हैं और कालान्तर में अवश्य ही समाधि स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं।

प्रश्न : हे गुरुदेव! क्या इस प्रकार के लोगों का मन विचलित नहीं होता और वह क्या अपने प्रयत्न में दृढ़ता से लगे ही रहते हैं?

उत्तर : हे पुत्र! उनकी श्रद्धा ऐसी ही होती है जिसके कारण अभ्यास से कभी भी विचलित नहीं होते। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में स्वयं अपने मुखारविन्द से यह शब्द कहे हैं-

सत्वानुरूपा सर्वस्य, श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धा मयोऽयं पुरुषो, यो यच्छ्रद्धः स एव स:।।

अर्थात् जिस व्यक्ति के अन्दर जितना अधिक सतोगुण का विकास हो जाया करता है वैसी ही उसके मन में दृढ़ श्रद्धा पैदा हो जाती है और परमात्मा का रूप श्रद्धामय है। जैसी जिसकी श्रद्धा होती है परमात्मा वैसा ही बन जाया करता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! भगवान के इस कथनानुसार तो परमात्मा अनेक रूप हो गया। इसका अर्थ तो यह हुआ कि साधक जिस भावना से उसको चाहेगा तो परमात्मा वैसा ही हो करके उसको मिल जायेगा। इसके अनुसार तो हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, फारसी सभी के मत ठीक हैं, क्योंकि वे लोग भी किसी न किसी नाम रूप से तो परमात्मा को चाहते ही हैं। क्या उनकी भावनानुसार उनको परमात्मा नहीं मिलेगा?

उत्तर : हे पुत्र! उनकी भावनानुसार उनको परमात्मा के दर्शन अवश्य होंगे। **'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना'** के अनुसार वे भी किसी न किसी नाम रूप से तो परमात्मा को चाह ही रहे हैं। यथार्थता से तो परमात्मा काय क्लेश आदि से रहित निर्गुण निर्विकार एवं निराकार ही है। रही हमारी तुम्हारी भावना की बात, उसके अनुसार तो **''योयच्छ्रद्धः स एव स:''** का नियम लागू हो ही जायेगा।

प्रश्न : हे गुरुदेव! इसका तो अर्थ यह हुआ कि साधक स्वतन्त्र है। जैसा उसके मन में कल्पना आयेगी, वह वैसा ही चिन्तन कर लेगा?

उत्तर : हाँ पुत्र! इसमें यत्किञ्चित् भी अस्तय नहीं है। जैसा उसके मन में आयेगा, वैसा ही चिन्तन कर लेगा। यह तो ठीक ही है, प्रत्युत कर लेगा ही नहीं, करता ही है। तुम अपने मन के अन्दर विचार करके देखो कि भगवान श्री राम, श्रीकृष्ण, सदाशिव आदि के चित्र नाना प्रकार के मिलते हैं। ये सभी चित्र, चित्र बनाने वाले के अपने मन की कल्पना ही तो है। तुम स्वयं ही इस बात का विचार करो। जैसे नाना प्रकार के चित्र बाजारों में मिलते हैं, क्या भगवान् श्री कृष्ण का अपना रूप इसी प्रकार था? मन गवाही देगा कि नहीं-नहीं। यह सभी चित्र तो केवल मात्र काल्पनिक चित्र हैं। अभ्यास करने वाला साधक उनको उनकी लीला-काल में देखकर

तो आया नहीं था। अब सोच समझकर पुस्तकों में जैसा वर्णन मिला वैसा ही साधक अपनी कल्पना से उनको मान बैठा। जहां पर भगवान पतंजलिदेव ने उपाय प्रत्यय का वर्णन किया है, वहां पर साधकों की सन्तुष्टि के लिए निम्नांकित सूत्र का उल्लेख किया है।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

अर्थात् उपाय प्रत्यय का सहारा लेने वाले योगियों के लिये श्रद्धा, वीर्य, स्मृति के द्वारा समाधि की प्राप्ति होती है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! क्या श्रद्धा, वीर्य, स्मृति समाधि आदि योगी को निर्विकल्प समाधि तक पहुँचा देते हैं?

उत्तर : हाँ पुत्र! बिल्कुल पहुँचा देते हैं। तुम भाष्य में व्यासदेव जी के विचार पढ़ो, वे क्या कह रहे हैं—

उपायप्रत्ययो योगिनां भवति। श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः। सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्य हि श्रद्धधनस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते। समुपजात-वीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते। स्मृत्युपस्थाने च चित्तम-नाकुलं समाधीयते। समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्त्तते। येन यथावद्वस्तु जानाति तदभ्यासात्तत द्विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञात; समाधिर्भवति।

अर्थात् श्रद्धा चित्त का प्रसाद है और वह श्रद्धा जन्म देने वाली माता की तरह योगी की रक्षा करती है। विवेक ज्ञान को प्राप्त होने को इच्छा वाला योगी ज्यों-ज्यों अपने अभ्यास को बढ़ाता है, त्यों-त्यों उसकी श्रद्धा दृढ़ता को पाती चली आती है और जिसके मन के अन्दर श्रद्धानुलोप दृढ़ता बढ़ती चली जाती है उसको स्मृति का उपस्थान होता चला जाता है और ज्यों-ज्यों स्मृति स्थिति पाता है त्यों-त्यों चित्त निर्विध्न समाधिस्थ हो जाता है और चित्त के समाधिस्थ हो जाने के बाद अपने आप ही प्रज्ञा विवेक प्राप्त हो जाता है, जिससे साधक वस्तु तत्व का यथार्थ ज्ञाता बन जाता है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! स्मृत्युपस्थान किसको कहते हैं? क्या स्मृति स्थिति इतनी बड़ी वस्तु है कि जिससे चित्त निर्विध्न समाधिस्थ हो जाये?

उत्तर : हाँ पुत्र! स्मृति स्थिति ठीक इसी प्रकार की वस्तु है। क्या तुम स्मृति का अर्थ नहीं जानते? भगवान् पतंजलिदेव ने तो जहां पहले वृत्तियों का वर्णन किया है, वहां पर स्मृति का लक्षण बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है—

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः।

अर्थांत् अनुभव में आये हुए विषय का न चुराया जाना ही स्मृति कहलाती है। योगी जिस वस्तु को एक बार जान लेता है, वह उसको भूला नहीं करता और जिस योगी के मन में इस प्रकार का ज्ञान कायम हो जाता है कि एक बार वस्तु तत्व के जान जाने पर वह भूलता ही नहीं। ऐसी स्थिति में वह अनायास ही समाधि को प्राप्त कर लेगा और समाधि प्राप्त हो जाने पर ज्यों-ज्यों उसकी स्थिति स्पष्ट होती चली जायगी, त्यों-त्यों प्रज्ञा विवेक प्रकट होता चला जायेगा और प्रज्ञा विवेक पैदा हो जाने के बाद योगी वस्तु तत्व की यथार्थता का ज्ञाता अनायास ही बन जायेगा।

प्रश्न : हे गुरुदेव! प्रज्ञा विवेक किसको कहते हैं, जिससे मनुष्य यथार्थता का ज्ञाता बन जाता है?

उत्तर : हे पुत्र! प्रज्ञा विवेक एक प्रकार से ऋतम्भरा प्रज्ञा का ही नाम है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! ऋतम्भराप्रज्ञा किसको कहते हैं और वह योगी को कब प्राप्त होती है?

उत्तर : हे पुत्र! ऋतम्भरा प्रज्ञा उसी का नाम है जो बुद्धि सत्य को ही धारण करती है अर्थात् जिसकी बुद्धि में यथार्थता के अतिरिक्त और कोई भाव आता ही नहीं है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! योगी को यह बुद्धि कब और कैसी स्थिति में प्राप्त होती है?

उत्तर : हे पुत्र! ये बुद्धि योगी को, जब वह अस्मितानुगत समाधि को प्राप्त कर लेता है तभी प्राप्त होती है और फिर वह योगी पतन से परे हो जाया करता है। क्योंकि भगवान् पतंजलिदेव स्वयं यह आदेश करते हैं-

तज्जः संस्कारी अन्य संस्कार प्रतिपन्थी।

अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कारों के उदय हो जाने के बाद योगी के मन में और कैसी संस्कार का उदय होता ही नहीं है। ऋतम्भरा प्रज्ञा अन्य संस्कारों को रोकने के नए दीवार का काम करती है।

प्रश्न : हे गुरुदेव! यह तो आपने पस्मृत्यु स्थान की बात कही जिसमें श्रद्धा मूल कारण बनती है। मेरे मन में एक शंका और पैदा होती है और उसका इस विषय में सम्बन्ध भी है। कृपा करके उसका निराकरण और कर दीजिये और वह यह है कि आजकल के समय में बहुत से इस प्रकार के प्रचारक हो गये हैं जो यह कहते हैं कि मन को चाहे जहां लगा लेना चाहिए और कई एकों का तो इस प्रकार का सिद्धान्त है कि युवा स्त्री पुरुषों को आमने सामने बैठा करके एक दूसरे को देखते हुए एक दूसरे पर मन को एकाग्र करने की आज्ञा देते हैं।

उत्तर : हे पुत्र! यह उन लोगों का विचार है, किन्तु शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार इस प्रकार के चिन्तन मनुष्य को पतन की ओर ले जाने वाले सहज में ही हो सकते हैं। इस प्रकार के चिन्तन चटपट वासना के रूप में बदल सकते हैं और उसका फल अंततः पतन की ओर जठाने के अलावा कुछ हो नहीं सकता। भगवान् श्रीकृष्ण का गीता में स्वयं आदेश है-

ध्यायं विषयान्पुन्सः,

सङ्गस्तेऊपजायते।

सङ्गात्संजायते कामः,

कामात्क्रोधोऽभिजायते।।

क्रोधाद्भवति संमोहः,

संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो,

बुद्धिनाशात्प्रणस्यति।।

— गीता २/६२-६३

अर्थात् ज्योंही मनुष्य वासनिक चिन्तन करता है, त्यों-त्यों उनके मन में वह वासना और कामना बढ़ती चली जाती है। कामना के अत्यधिक बढ़ जाने पर यदि उसकी उपलब्धि नहीं होती है तो मन में बड़ा भारी क्रोध पैदा हो जाता है और क्रोध पैदा हो जाने पर बड़ा भारी मोह, मति-भ्रम और स्मृति का भ्रंश होने लगता है। स्मृति भ्रंश हो जाने के बाद बुद्धि का नाश हो जाता है। बुद्धि का नाश हो जाने के बाद केवल मात्र प्रणश्यति की ही डिग्री मिलती है। इसलिए यह इस प्रकार के ध्यान और चिन्तन साधक को कामनाओं के गर्त में गिरा कर उत्थान की अपेक्षा घोर पतन कर डालते हैं। इसलिए साधक के लिए तो सर्वथा यही उचित है कि-

विहाय कामान्यः सर्वा-

न्पुमांश्चरतिं निःस्पृहः।

निर्ममो निरहङ्कारः,

स शान्तिमधि गच्छति।।

अपूर्यमाणमचल प्रतिष्ठं-

समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे,

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।

— गीता २/७०-७१

अर्थात् जो मनुष्य सब कामनाओं को छोड़ करके निर्ममो निरहङ्कार होकर घूमता है वह शान्ति को प्राप्त कर लेता है। भगवान इसी बात को स्पष्टीकरण के सज्ञथ समझाने के लिये उदाहरण देकर समझाते हैं कि जिस प्रकार से सभी नदी-नाले समुद्र में मिल करके अपने नाम और रूप को खो बैठते हैं। ठीक इस की प्रकार से सभी कामनायें मनुष्य के मन में जाग कर खत्म हो जाती हैं तो वह मनुष्य शान्ति को प्राप्त कर लेता है और जो मनुष्य कामनाओं के पीछे दौड़ता रहता है, वह कभी भी शान्ति को नहीं पा सकता। इसलिये प्रत्येक साधक को चाहिए कि वह—

योगश्चितवृत्ति निरोधः

के सही अर्थ को समझकर—

चित्तवृत्तिनां नितरांरोधः

की यथार्थ स्थिति को प्राप्त करे, वही कल्याण का आदि श्रोत है।